अनुकरण करते हुए वह रानी मदयन्ती सदा प्रफुल्ल वदन रहती थी।

ऐसी गुणवती सहधर्मिणी प्राप्त कर सौदास यही समझते थे कि मैंने पृथ्वी पर ही स्वर्ग का पुण्य लाभ कर लिया है; क्योंकि जिसकी धर्मपत्नी अनुकूल नहीं है, वह तो अनेक वैभव-भोग-सम्पन्न होकर भी साक्षात् नरक ही भोगता है। राजा इसी भाव से अपनी हृदय-साम्राज्ञी मदयन्ती को सदैव सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहते थे। भारत-भूमि के सभी उपलब्ध भोग, नाना प्रकार के बहुमूल्य परिधान, अन्न और अलंकार मंगवाकर वह मदयन्ती को उन्हें इच्छानुसार उपभोग करने की स्वतन्त्रता देते थे। रानी भी उन्हें कभी अकेली अंगीकार न करती थी। राज-प्रासाद का समस्त परिकर उसके सुख-साम्राज्य का सहयोगी होता था। यहां तक कि रानी के ऐसे सद्व्यवहार से परिचारिकाओं ने भी कभी यह अनुभव नहीं किया कि वे सेविकाएँ हैं।

सौदास प्रायः नित्य ही नवीन-नवीन अलंकारों से रानी का श्रृंगार किया करते थे और रानी अपने धारण किये हुए आभूषण अपनी सेविकाओं को अपने ही सुकोमल हाथों से पहना दिया करती थी। सौदास उसके मन की रुचि जानने के लिए नाना-विधि प्रश्न किया करते थे, पर वह कभी अपने मुँह से किसी आभूषण के प्रति अपनी रुचि प्रकट न करती, फिर लालायित होना तो संभव ही कैसे होता!

सौदास शास्त्रज्ञ, शस्त्रज्ञ, विवेकी, शीलवान् और धर्मशील थे, तथापि काम के पुष्प-गुच्छ-युक्त नाराचों से वह भी प्रायः

दशरथ की भांति ही आहत हो जाते थे। संभवतः यही कारण था कि वह मदयन्ती की रुचि-अरुचि का अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमान लगाकर सदैव उसे सन्तुष्ट, प्रसन्न रखने में कोई त्रुटि नहीं होने देते थे। यहाँ के लगभग सभी भोग प्राप्त करने के पश्चात् सहसा एक बार उनके मन में यह भाव आया कि 'अपनी हृदयेश्वरी को हमने अभी तक कोई दिव्य वस्तु भेंट नहीं की। अतः कोई अलौकिक रत्न अथवा आभूषण प्राप्त करना चाहिये, ऐसा दिव्य रत्न जिसकी सर्वत्र धूम मच जाय। दूर-दूर तक जिसके विषय में यह प्रसिद्ध हो जाये कि सौदास ने अपनी प्रिय रानी के लिए ऐसा अनुपम अलंकार प्राप्त किया है, जैसा आज तक किसी ने कहीं नहीं किया।'

इसी संकल्प से सौदास के हृदय-मस्तिष्क पर चिंता का एक श्याम मेघ आच्छादित हो चला। उनकी क्षुधा लुप्त हो गई, राज-कूपों का निर्मल, स्वच्छ, सुगन्धित जल स्वादहीन लगने लगा। उठते-बैठते उनका अहंकार एक अनुपम, अद्वितीय उपहार प्राप्त करने की कल्पनाएँ करने लगा। वह चाहते थे, सहसा ऐसी दिव्य भेंट अपनी रानी को दूँ कि वह प्रसन्न-चकित रह जाये और उसकी मेरे में आसक्ति और भी वृद्धि को प्राप्त हो, हमारा-स्नेह बन्धन और भी प्रगाढ़ हो जाये। उनके मस्तिष्क पर बहुत विचार करने से बोझ पड़ा था, तथापि अपनी कल्पना को मूर्त करने का कोई उपाय सौदास को नहीं सूझा। उनके मन की इस स्थिति को मदयन्ती ने पहचान लिया और एक सन्ध्या सुस्वादु, षट्‌रस प्रधान भोजन में भी राजा की अरुचि देखकर उसने सुकोमल विनीत स्वर में प्रश्न किया, "आर्यपुत्र!

कुछ समय से आप चिंताग्रस्त जान पड़ते हैं ? कृपा कर बताइये, मुझसे कोई अपराध तो नहीं हुआ ?"

"नहीं ! नहीं !!" राजा ने प्रेम भाव से मदयन्ती के मुख को हाथ रख बन्द करने का उपक्रम किया—"यह कैसी बात है, देवि ! क्या तुम जैसी सुलक्षणा से भी कभी कोई त्रुटि हो सकती है ?"

"फिर आपके हृदय को किसने आघात पहुँचाया है ?"

"नहीं देवि ! ऐसा भी नहीं है ! मेरी चिंता के विषय में तुम्हें तनिक भी व्यग्र नहीं होना चाहिये। मैं किसी अत्यन्त साधारण-सी बात पर गंभीरता से विचार कर रहा हूँ। शीघ्र ही तुम्हें भी इस सम्बन्ध में सूचित करूँगा।"

सौदास का उत्तर पूर्ण समाधान प्रस्तुत न कर सका। मदयन्ती ने और कोई प्रश्न नहीं किया। पर वह खिन्न, उदास हो गई। सौदास ने तब अत्यन्त विनम्र भाव से कहा—"देखो प्रिया ! तुम्हारी व्यर्थ की उदासी मेरे लिए मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाने वाली होगी। अतः तुम किसी भी प्रकार सोच न करो। मैं केवल एक दिव्य अलंकार प्राप्त करने के विषय में सोच रहा हूँ।" कहते-कहते राजा ने स्निग्ध प्रेम से पूरित नयनों से धर्म-पत्नी की ओर दृष्टिपात किया। मदयन्ती व्रीड़ा से आरक्त ही नहीं हुई, संकुचित भी हो गई। तब किंचित मुस्कराकर झुके नेत्रों से ही उसने कहा, "सचमुच ! कभी-कभी आपकी इस भोगपरायणता पर आश्चर्य होता है। आप मेरे लिए इतना चिंतित क्यों रहते हैं ! मेरा सन्तोष आपकी प्रसन्न मुद्रा में ही निहित है, अलंकारों की मोह-मायामयी रचना में मैं अब और

भूलना नहीं चाहती। एक सुहागिन को जो कुछ चाहिये, वह सब मुझे प्राप्त है, अर्थात् आपके चरणकमलों की सेवा ! अतः आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि इस व्यर्थ की चिंता में न पड़ें।"

रानी की ऐसी त्यागमयी वाणी सुनकर सौदास का स्नेह सिन्धु जैसे ज्वार से उद्वेलित हो चला। उन्होंने रानी के गुलाब से कपोल का दाएँ कर से हल्का स्पर्श करते हुए कहा—"अब तो मैं तुम्हारे लिए ही अपनी मनोकामना पूर्ण करूँगा।" वह जानते थे कि सुहागिन नारी पति के पश्चात् आभूषणों को ही सर्वाधिक चाहती है। पर रानी का निःस्वार्थ उद्गार सुनकर उन्होंने यह अनुभव किया कि ऐसी निस्पृह पत्नी के लिए तो पति स्वर्ग भी धरा पर ले आये तो थोड़ा है। अतः अपनी कल्पना को साकार करने में विलम्ब न करने के उद्देश्य से उन्होंने मन-ही-मन गुरु वशिष्ठ जी की शरण में जाने और उनका परामर्श, आशीर्वाद प्राप्त करने का संकल्प किया। मदयन्ती को इस विषय में उन्होंने कुछ न बताया।

वशिष्ठ जी असमय ही और बिना किसी पूर्व सूचना के राजा सौदास को अपने आश्रम में आया देख बहुत चकित हुए। तथापि दण्डवत् प्रणाम करते हुए राजा को सम्बोधित करके कहने लगे—"आयुष्मान् ! कल्याण के भागी हो ! बैठो।"

श्रद्धा से नेत्र झुकाये सौदास गुरु वशिष्ठ जी के लिए लायी हुई मणियों, उत्तम वस्त्रों और मधुर फलों से युक्त भेंट अर्पित कर, समीपस्थ उच्चासन पर विराज गए। उनकी मुद्रा पर उस समय स्वाभाविक तेज और मुस्कान दोनों ही नहीं थे। गुरु वशिष्ठ जी तो त्रिकालदर्शी ऋषियों में अग्रगण्य थे। उनकी

श्वेत कुन्तलराशि की लटों और वैसी ही दाढ़ी से आवेष्टित दीप्तिमान् मुखमण्डल और ज्योतिर्मय नेत्रों से कुछ ऐसा ओज विकीर्ण होता था कि अच्छे-अच्छे प्रभावशाली नृपति एवं तपस्वी मुनिकुमार मलिन पड़ जाते थे, जैसे सूर्योदय-बेला में उडुगन मध्यम पड़ जाते हैं। राजा सौदास तो स्वयं ही मलिन हो गये थे, क्योंकि आज तक वह गुरु के पास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान कराने ही आए थे; परन्तु, आज शीघ्रतावश जिस गुत्थी को मन में लेकर वह आए थे, अब उसकी तुच्छता स्वयं अनुभव कर आत्मग्लानि से भर गए। अतः जब वशिष्ठ जी ने प्रश्न किया—"कहो राजन्, प्रजा में सर्वप्रकार से शान्ति तो है न, प्रजा को कोई कष्ट तो नहीं है ?" तो वह यह सोचकर कि अब अगला प्रश्न भी किया जायेगा, सिहर उठे; तथापि उन्होंने विनम्र भाव से कहा—"जहाँ आपके समान हितचिंतक गुरुजन विद्यमान हैं, वहाँ कैसी अशान्ति ? कैसी पीड़ा ?"

"तो कहो, इस असमय में कैसे आना हुआ ?"

वशिष्ठ जी के समीप ही उस अपराह्ण काल में दो शिष्य 'प्रश्नोपनिषद' पर विचार कर रहे थे। राजा के आगमन पर वे बाहर चले गए थे। इस कारण भी सौदास को कुछ संकोच हो आया था।

"महाराज ! आपके दर्शनों की लालसा जाग उठी, इसलिये······"

"समझा ! राजन् तुम स्पष्ट कहो न, कुछ प्राप्त करने का संकल्प तुम्हारे मन में जाग उठा है, कुछ दिव्य वस्तु प्राप्त करना चाहते हो ?"

"महाराज !" ग्रीवा झुकाकर सौदास ने कहा, "आपके समक्ष तो समस्त ब्रह्माण्ड वैसे ही दृष्टिगत है, जैसे हथेली पर रखा हुआ बेर। आप तीनों लोकों का और तीनों कालों का ज्ञान रखते हैं। आपकी गति ब्रह्मलोक तक है। आपका दर्शन अमोघ है, अतः मैं आशा करता हूँ, मेरा अभीष्ट भी सिद्ध होगा।"

गम्भीर मुस्कान से गुरु वशिष्ठ का तेजस्वी मुखमण्डल विकसित हो गया। वह बोले—"सौदास तुम्हारा यश पूर्णिमा की चन्द्रिका जैसा ही उज्ज्वल है। तुम्हारी धर्म में अबाध गति है। राजनीति और परलोक-विद्या, दोनों के ही तुम प्रकाण्ड ज्ञाता हो। इसी कारण हमें आश्चर्य होता है, कि तुम्हारे मन में किसी उच्चलोक से दिव्य उपहार प्राप्त कर अपनी रानी को प्रसन्न करने की लालसा क्यों जागी ? हम जानते हैं, रानी मदयन्ती की इस संसार के भोग-पदार्थों में दिनानुदिन अनुरक्ति कम हो रही है। वह भोग-लिप्सा से ऐसे ही दूर हैं, जैसे कुमुदिनी सूर्य से। फिर तुम्हें यह साहस कैसे हुआ कि तुम अब भूलोक से इतर किसी लोक से अनुपम भेंट लाकर रानी को दो ? राजन् ! किसी वस्तु की आशा रखना ही दुःखों का स्रोत है।"

सौदास निरुत्तर रह गए। लज्जित हो वह जैसे निर्वाक् हो गये। ओठ सिल गये। मुख, जो पहले से ही म्लान था, स्वेद-कणों से भर गया। कुछ समय तक गुरु वशिष्ठ जी के उस स्वाध्याय-कक्ष में मौन छा गया। फिर सौदास ने ग्रीवा उठाई और बोले, "महाराज ! आप जो कहते हैं, वह सत्य है। पर, दुर्लभ अथवा दिव्य पदार्थों को प्राप्त करने में जो पुरुषार्थ किया

जाता है, क्या वह निष्फल होता है ?"

"राजन् ! ऐसे सभी पुरुषार्थ निष्फल, निकृष्ट समझने चाहिएँ, जिनसे परोपकार-साधन न हो।"

"तो महाराज ! कोई ऐसा ही उपाय बताइये कि मैं ऐसा दिव्य अलंकार कैसे और कहां से प्राप्त करूँ जिससे परोपकार-साधन भी हो और रानी को भी सूर्यवंश के अनुकूल ही एक अलौकिक आभूषण ग्रहण करने का गौरव प्राप्त हो।"

"राजन् ! तुम्हारे वंश में रघु जैसे प्रतापी नृपति भी हुए हैं, जो परोपकार के लिए ही धन प्राप्ति के उद्देश्य से कुबेर पर आक्रमण बोलने की शक्ति और साहस रखते थे। वह वंशगत पौरुष तुममें भी विद्यमान है। पर, तुम्हारी अधीरता का यही कारण है कि तुम्हारे उद्देश्य के पीछे परोपकार की भावना नहीं है। तुम केवल अपनी रानी को ही उपहार भेंट कर अपनी आसक्ति का ढोल पीटना चाहते हो, जबकि देवि मदयन्ती की यहाँ के किसी भी राजभोग में कोई लिप्सा नहीं।"

वशिष्ठजी की गम्भीर वाणी ने जहां एक ओर सौदास के अहंकार का मर्दन किया, वहां दूसरी ओर उनके विवेक को भी उसी तरह जागृत किया, जैसे गम्भीर मेघ गर्जन से मयूर का उत्साह उमड़ पड़ता है। उनके मन में जब परोपकार की भावना बलवती हुई तो वशिष्ठजी बोले, "राजन् ! तुम्हारे पूर्वजों की इन्द्र से सदैव मित्रता रही है। जैसा दिव्य उपहार तुम चाहते हो वैसा बिना किसी तप और कष्ट के नाकपति से ही प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे प्रति भी इन्द्र का सौहार्द प्रसिद्ध है। अतः राजन्, तुम विलम्ब न करो। शुद्ध चित्त से इन्द्र का

आह्वान करो। इस सम्बन्ध में वही तुम्हारी कामना पूरी करेंगे। वह सूर्यवंश के परम मित्र हैं।"

यह वार्तालाप हो ही रहा था, कि एक पीत वस्त्रधारी, अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण ने वहां प्रवेश किया। उसने वशिष्ठजी को विनत हो प्रणाम किया और राजा सौदास को भी हाथ जोड़ दिये। उसके मुख मण्डल पर प्रफुल्लता नृत्य कर रही थी। वशिष्ठजो ने एक क्षण उस ब्राह्मण-कुमार पर दृष्टि गड़ा दी, फिर राजा सौदास की ओर वह किंचित स्मिति से ऐसे ही देखने लगे जैसे कोई योगी सिद्धि की प्राप्ति पर हर्षित होता है। वास्तव में यह ब्राह्मण-कुमार और कोई नहीं, स्वयं इन्द्र ही थे, जो ब्राह्मण के वेश में वशिष्ठजी के संकल्प मात्र से प्रकट हो गये थे। राजा सौदास के आश्चर्य को दूर करने के लिये इन्द्र अपने स्वाभाविक देदीप्यमान् रूप में प्रकट हो गये। राजा सौदास ने तत्काल आसन से खड़े होकर उन्हें गले लगा लिया, हर्ष से उनकी आँखों में जल के तिरमिरे छा गए। गद्‌गद् भाव से वह वशिष्ठजी के चरणों में गिर पड़े। विकंपित वाणी में उन्होंने कहा—"मैं पहले ही जानता था, आपका किंचित रुष्ट होना भी अमोघ फल देने वाला होता है।"

इन्द्र ने तब मुस्करा कर सौदास की ओर देखा और अपने उत्तरीय के छोर से उन्होंने दो चन्द्रमा-से जगमगाते कर्णफूल निकाले। वशिष्ठ जी का सारा स्वाध्याय-कक्ष मानो पूर्णिमा के गगन सदृश आलोक पूरित हो गया। राजा सौदास के नेत्र झप-झप करने लगे। तभी इन्द्र ने कहा—"राजन्! अयोध्या के चक्रवती राजाओं को मैं पृथ्वी का इन्द्र मानकर सदैव घनिष्ठ

मित्रता का निर्वाह करता आया हूँ । तुम्हें ज्ञात ही होगा, तुम्हारे वंशजों में राजा दशरथ ने सपत्नीक रण में देवताओं की कैसी अपूर्व सहायता की थी । उनके उस ऋण से क्या हम कभी उऋण हो सकते हैं ? गुरुदेव वशिष्ठ जी हमारे लिये भी उतने ही पूज्य हैं, जितने तुम्हारे लिये । इनके संकल्प मात्र से मैं तुम्हारी इच्छा जानकर यह अलौकिक मणिमय कुण्डल लाया हूँ ।........" इन्द्र ने उन तारों की भाँति जगमगाते हुए कर्णफूलों को दाहिने हाथ से ऊपर उठाकर दिखाया । उनका प्रकाश एक बार पुनः मानो नृत्य कर उठा । उपकृत और स्तब्ध हुए राजा सौदास एकटक उन कर्णफूलों को देख ही रहे थे कि सहसा उनमें से कुछ स्वर्ण-बिन्दु भूमि पर आ गिरे । वशिष्ठ जी प्रसन्नता से सब कुछ देखते जा रहे थे । सौदास ने लगभग उसी व्यग्रता से उन स्वर्ण बिन्दुओं को उठाया, जैसे कोई श्रद्धालु मरुभूमि में पावन गंगा-जल पा गया हो । इन्द्र बोले—"सौदास ! इन कर्णफूलों की यह एक बड़ी विशेषता है । इनसे रात्रि-दिवस स्वर्ण टपकता है । यह स्वर्ण तुम्हारी कैकई-सी पूतात्मा मदयन्ती परोपकार में ही व्यय करेंगी ।"......

सौदास के मुख पर प्रसन्नता खेलने लगी । प्रशंसा से वह कहने लगे, "जब दिन में ही इन कुण्डलों का ऐसा उजला प्रकाश चकाचौंध फैला रहा है, तो रात्रि में इनकी कैसी ज्योति होती होगी !"

"राजन् !" इन्द्र ने फिर कहा—"इन कुण्डलों को धारण करना किसी के लिये सहज नहीं । देवि मदयन्ती परम साध्वी हैं, परहित साधक, दयालु और दानशीला हैं । उन्हीं में इतना

ओज है कि वे इन्हें धारण कर सकेंगी। ध्यानपूर्वक सुनिये, यदि इन्हें भूल कर भी पृथ्वी पर रख दिया, तो नाग अपहरण कर ले जायेंगे, और रात्रि में इन्हें धारण किये हुए ही निद्रा-देवी का आवाहन किया गया तो देवता बलात् छीन कर ले जायेंगे······और भीतर-बाहर के शौच का ध्यान न रखकर, अपवित्र अवस्था में ही इन्हें धारण किया गया तो ये कर्णफूल यक्षों के हाथों में चले जायेंगे।"

"सचमुच ! तब तो बड़ी जागरूकता की आवश्यकता है, इन्हें धारण करने में।" वशिष्ठ जी ने इन्द्र से उन कुण्डलों को अपने हाथ में लेकर अवलोकन करते हुए कहा।

"यही नहीं।"—इन्द्र ने प्रसन्नमुद्रा से आगे कहा—"इन कर्णफूलों को जो भी धारण करेगा, ये उसी के आकार के अनुरूप छोटे या बड़े हो जायेंगे।"

"अच्छा !" सौदास के विस्मय और हर्ष की सीमा न थी।

"हाँ राजन् !"—इन्द्र ने कहा—"इन्हें धारण करने वाले को क्षुधा-पीड़ा भी नहीं होती।"

"अच्छा, यह तो सूर्यदेव के अक्षय-पात्र[1] की समता रखते हैं।" वशिष्ठ जी ने कहा।

"गुरुदेव !"—इन्द्र बोले—"अग्नि, विष और हिंस्र जन्तु, इन कर्णफूलों के प्रभाव से ही कोई पीड़ा अथवा उपद्रव नहीं कर सकते। रात्रि में उडुगन अपनी पूर्ण प्रभा में भी इनके सम्मुख मलिन हो जायेंगे। अब आप मुझ पर कृपा करने

१. महाभारत : वनवास में द्रौपदी इसी पात्र से अतिथियों को भोजन कराती थीं।

के हेतु ये दिव्य कर्णफूल हमारे मित्र अयोध्यापति को प्रदान करें।"

इन्द्र के समक्ष ही राजा सौदास ने गुरु वशिष्ठ जी से वे स्वर्गिक कर्णफूल प्राप्त कर मन ही मन अपने भाग्य को सराहा और गुरु जी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम कर इन्द्र को गले लगा लिया। हर्षोल्लास से सौदास के नेत्र सजल हो आए थे। सौदास से गले मिलते ही स्वर्ग के राजा इन्द्र ने पुनः ब्राह्मण-कुमार का रूप धारण कर लिया और गुरु वशिष्ठजी से आज्ञा ले, वह स्वाध्याय-कक्ष से बाहर प्रस्थान कर गये।

"महाराज!" सौदास ने तब वशिष्ठ जी से कहा—"आपकी ही अपार अनुकम्पा से मेरी यह असंभव-सी प्रतीत होने वाली मनोकामना पूर्ण हुई है। मेरी अब यह इच्छा है कि आपके करकमलों द्वारा ही देवि मदयन्ती को यह अनुपम उपहार प्राप्त हो। वह आपके कृपा-प्रसाद स्वरूप ही इन्हें ग्रहण करें।"

"राजन्! तुम्हारे उद्‌गार यद्यपि उचित ही हैं, परन्तु इन्हें स्वीकार करना भावना के वशीभूत होना ही होगा। इन्हें हमारी कृपा का प्रसाद मानो अथवा इन्द्र की मित्रता का प्रतीक, इसमें तुम्हारा बड़प्पन ही है। हमारी तो अब यही आज्ञा है कि इन स्वर्गिक कुण्डलों को तुम्हीं रानी को भेंट करो और उन्हें इनकी समस्त विशेषताओं का भलीभांति ज्ञान करा दो। हमारा इस सम्बन्ध में राज-प्रासाद में जाना और एक अत्यन्त साधारण घटना को उत्सव का महत्त्व देना उचित नहीं।"

सौदास को एक बार पुनः जैसे भावाभिभूत हुई अपनी

बुद्धि की असमर्थता का भान हुआ। गुरु की आज्ञा से उन्होंने सचैल स्नान कर दोनों हाथों की अंजलि फैलाकर वे दिव्य कुण्डल ग्रहण कर मस्तक से लगा लिये। वशिष्ठ जी की आज्ञा पाकर उन्हें अपने रत्न-जटित अंगरखे के भीतर सावधानी से छुपा लिया। कक्ष में बिखरे हुए स्वर्ण को दोनों हाथों से समेट कर सौदास ने उसे गुरु वशिष्ठ जी को अर्पित कर दिया। तब वे चार श्याम वर्ण अश्वों से संचालित अपने वायुगामी रथ पर आरूढ़ हो राज-प्रासाद में लौट आए।

उस समय सौदास की प्रसन्नता वैसी ही थी जैसी किसी कठोर तपस्या का सुन्दर अभीष्ट फल पाने वाले तपस्वी की होती है। राज-प्रासाद के अंतःपुर में जाते हुए उनका कोई पैर सीधा नहीं पड़ता था। यद्यदि इन्द्रादि देवताओं की मित्रता सूर्यवंशियों को प्राप्त थी, तथापि उस वंश में सुरा का सेवन कभी नहीं किया गया था। पर, इस समय सौदास की गति सुरा से प्रभावित व्यक्ति जैसी ही थी। रानी को उन दिव्य कर्णफूलों का वृत्तान्त सुनाने की ही उन्हें उतावली नहीं थी, प्रत्युत् वह उन्हें धारण करने के पश्चात् साम्राज्ञी मदयन्ती की अद्वितीय सुन्दरता को निहारने के लिये भी व्यग्र थे। 'रानी इन्हें पहनकर कितनी सुन्दर लगेगी!' यही संकल्प रह-रहकर उनके मन में उठ रहा था।

मदयन्ती उस समय अन्तःपुर में श्वेत दुग्ध फेन सी उज्ज्वल रेशमी चादर से आवेष्टित पलंग पर लेटी हुई विश्राम कर रही थी। परिचारिकाएं मयूरपुच्छ से निर्मित विजन डुलाकर निद्रा के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर रही

थीं। गायन में निपुण एक परिचारिका रानी के आग्रह पर सितार पर धनाश्री[1] की धुन बजा रही थी। मदयन्ती की आँख अभी लगी न थी। राजा का असमय आगमन सुनकर वह चकित हरिणी सी उठकर खड़ी हो गई। परिचारिकाएं उल्टे पैरों शनैः-शनैः कक्ष से बाहर हो गईं। उन्मत्त प्रेमी की भाँति राजा ने वे अद्‌भुत मणिमय कुण्डल निकाले और उन्हें रानी की आश्चर्य से विस्फारित आँखों के समक्ष हवा में झुलाने लगे। कुछ क्षण प्रसन्नतावश दोनों मौन रह गये। अकस्मात कर्ण-फूलों से स्वर्ण नूपुर प्रकट होकर रानी के सम्मुख ही भूमि पर बिखरने लगे। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अब सौदास बोले—"कहो, यह दिव्य मणिमय कुण्डल पसन्द आए ?"

"बड़े अद्‌भुत जान पड़ते हैं।" आहिस्ता-आहिस्ता मन्द स्वर में कहा रानी ने।

"रानी, यह बहुत ही विलक्षण हैं। जानती हो, इन्हें मैंने गुरु वशिष्ठ जी की कृपा से अपने मित्र इन्द्र से प्राप्त किया है।"

"सच ?"

"हाँ ! मैं तुम्हारे लिये स्वर्ग से भी उपहार लाने में सफल हो गया !"

मदयन्ती सहसा उदास हो गई। बोली, "आपका पुरुषार्थ निस्सीम है। पर इससे श्रेष्ठ तो यही होता कि अपने पुरुषार्थ को अब आप आत्म-कल्याण के साधन में प्रयुक्त करते।......"

"देवि ! मदयन्ती ! तुम्हारे विचारों को मैं बड़ा मूल्यवान्

---

१. धनाश्री : संध्या ३ से ७ बजे तक गाया जाने वाला एक राग।

मानता हूँ। उस दिशा में मैं पीछे नहीं हूँ। देखो, यह जो स्वर्ण-नूपुर टपकते हैं इन कुण्डलों से, यह परोपकार के निमित्त ही हैं......लो, अपने कुल-देवता, सूर्य की उपासना कर, इन्हें धारण करो और मेरे पुरुषार्थ को, गुरु वशिष्ठ जी की कृपा को और मित्र इन्द्र की निःस्वार्थ मित्रता को एक साथ ही कृतार्थ करो।"

मदयन्ती ने गद्गद् भाव से जब वह कुण्डल धारण किये तो वह ऐसी ही शोभित हुई जैसे मदन के साथ रति हो अथवा इन्द्र के साथ इंद्राणी हो।

वे स्वर्गिक कुण्डल पहन मदयंती का संयमित, पवित्र जीवन और भी नियंत्रित एवं पावन हो चला। उसकी जागरूकता बढ़ गई। परोपकार वृत्ति में भी अभिवृद्धि हुई और उन कुण्डलों की अलौकिक प्रभा-रश्मियों की भांति उसकी यशोकीर्ति भी अयोध्या से बाहर दूर-दूर तक फैल गई। समस्त राज्य में, आबाल-वृद्ध उन कुण्डलों की एक झलक मात्र पाने के लिये अधीर हो उठे। राजाओं की सभाओं, ऋषि-मुनियों के आश्रमों और देवताओं के समारोहों में अयोध्यापति की परम साध्वी रानी मदयन्ती के अनुपम, स्वर्ण-वर्षा करने वाले कुण्डलों की गाथा सुनाई जाने लगी। यक्षों में भी उसकी चर्चा हुई और वे ईर्ष्या वश इन्द्र को कोसने लगे। नागों में भी रैन-दिवस अतुल स्वर्ण-नूपुर बरसाने वाले परम अद्भुत कुण्डलों का वर्णन आश्चर्य से सुना गया। इसका विशेष कारण था, रानी मदयन्ती की उदारता एवं परोपकार वृत्ति। प्रति आठ प्रहर में उन कुण्डलों से जो स्वर्ण बरसता, रानी उनके आभूषण बनवाने लगीं और नित्य अपने राज्य की बीस विवाहिता सुहासिनों को

सादर आमंत्रित कर उन अलंकारों को अपने ही हाथों से उनमें वितरित करने लगीं। इस प्रकार अयोध्या के घर-घर में मदयन्ती की उदारता से सम्पन्नता का साम्राज्य वृद्धि पाने लगा। उन दिव्य स्वर्ण-निर्मित आभूषणों की दीप्ति ही इतनी अलौकिक थी कि दिनमणि के रहते हुये भी वे चमकते थे। राज्य में एक ओर जहां सौदास और रानी मदयन्ती की परोपकारिता का गुणगान हुआ, वहां प्रजा में दिव्य कुण्डलों से अलंकृत राजमहिषी के दर्शनों की लालसा भी तीव्र हो गई। सौदास-मदयन्ती तक भी प्रजा की यह इच्छा दूतों और मंत्रियों द्वारा पहुंच गई। तब एक सप्ताह के विचार-विमर्श के पश्चात् सौदास के आगामी जन्म-दिवस पर राजा के साथ ही राजमहिषी के दर्शन भी प्रजा को कराने की तिथि निश्चित कर दी गई। प्रजा में हर्ष का समुद्र मानो ज्वार लेने लगा। उस उपलक्ष्य में सौदास ने सभी युवतियों और कन्याओं को राजमाता की ओर से एक-एक स्वर्ण मुद्रा और रेशमी परिधान देने की घोषणा भी कर दी थी। गुरु वशिष्ठ जी की आज्ञा पाकर उस विशेष समारोह के लिये कुछ विशिष्ट ऋषि-मुनियों को भी दूतों के हाथ निमंत्रण प्रेषित किये जाने लगे।

उनकी सम्मति से ही फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की अमावस्या के दिन राजा और राजमहिषी के दर्शनों का समारोह सम्पन्न होना निश्चित हुआ था। राजा की ओर से मंत्रीगण उत्सव की विशेष तैयारी करने लगे। उस समय अयोध्या-वासियों को वैसा ही हर्ष था, जैसा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के बनवास-अवधि समाप्त कर अयोध्या लौटने के समय हुआ था।



तपोवन का जीवन

जनकपुर से लगभग चौबीस मील दक्षिण तिरहुत में महामुनि गौतम का पवित्र आश्रम था। आश्रम के समीप ही कमला नाम की निर्मल जल वाली सरिता बहती थी, जो जनकपुर के निकट ही, तीनों लोकों में विख्यात, सायुज्य प्रदान करने वाली पुण्यतोया भागीरथी में जा मिलती थी। महामुनि गौतम अपने शान्त आश्रम में परम रूपवती अहिल्या के साथ वैसे ही शोभा पाते थे, जैसे अत्रि के साथ पतिव्रताओं में उज्ज्वल यशवाली अनूसुइया निवास करती थीं, अथवा याज्ञवल्क्य के साथ जैसे परम विदुषी मैत्रेयी जी प्रतिष्ठित थीं। आश्रम के चारों ओर

उन मुनि कुमारों ने, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेद-पुराणों का स्वाध्याय करते थे, एवं ब्रह्म विद्या में दक्षता प्राप्त करने के लिए ही एक-दूसरे को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे; बेर, आम, जामुन, बेल, जलेबा के सुन्दर वृक्ष लगाये थे। ये वृक्ष ऋतु आने पर अपने फलों से युक्त ऐसे ही विनत हो जाते थे जैसे विद्या प्राप्त करके वे ब्रह्मचारी स्वयं विनम्र हो जाते थे। कदलि के कुंज आश्रम के प्रवेश द्वार से भीतर तक दो लम्बी पंक्तियों में खड़े हुए अपने लम्बे चिकने पत्तों से ऐसी ही शोभा पाते थे जैसे किसी राजभवन के बाहर अतिथियों की अगवानी करने के लिए स्फूर्ति भरे चोबदार खड़े हों। हवन-कुण्ड से सुवासित धूम उठ-उठकर वायुमण्डल को अगर की गंध से सुगन्धित बनाकर मन को बरबस मोहित कर लेता था। समीपस्थ पुष्प-उद्यान से, जहां सरोवर में श्वेत और अरुण पद्म सदैव विकसित होते रहते थे, भ्रमरों की गुंजार कभी-कभी वैसी ही आती थी, जैसे किसी आश्रम का बटु समुदाय सामूहिक मंत्रोच्चार कर रहा हो। उसमें विहार करने वाले शुभ्र हंस ऋषियों को यदाकदा मानसरोवर का स्मरण कराते थे। गुलाब, चमेली, गेंदा, केतकी आदि सुन्दर-सुन्दर पुष्पों की भीनी मादक गंध वातावरण को सुरम्य बना देती थी। पूजन के लिये यह उद्यान फूल देने में ऐसा ही उदार था, जैसे दान देने में रघु उदार थे। आश्रम का वायुमण्डल लता-वृक्षों पर मधुर स्वर से कूकने वाली कोकिलों, मैनाओं आदि से और भी सुखद एवं मनोनुकूल हो जाता था। वहां निवास करने वाले शुक वेदमंत्रों का उच्चारण करते थे। हरिणियों के सद्यजात छौने

और अमित दुग्ध दान देने वाली गौओं के हृष्ट-पुष्ट बछड़े एवं विशाल श्याम नेत्रों वाली उनकी बछियां, वीतरागी, ब्रह्म-चिन्तन में तल्लीन ऋषि-कुमारों के मध्य ममता और आत्मीयता की सूक्ष्मतम भूमिका का निर्माण करती थीं। मेघाच्छादित आकाश देखकर जब वहाँ के मयूर नृत्य करते थे, तो दर्शकों को राम-आगमन का समाचार सुनकर आत्मविभोर हो नृत्य करने वाले मुनि सुतीक्ष्ण का स्मरण हो आता था।

समस्त सृष्टि के मनुष्यों के सौन्दर्यांश से निर्मित परम रूपवती सर्वांग सुन्दरी अहिल्या अपनी सुन्दरता के लिये तो विख्यात ही थीं, पर उनकी पतिनिष्ठा भी अद्वितीय थी। महामुनि गौतम की श्रेष्ठ तपस्या के दण्ड में मानो पतिपरायणा साध्वी अहिल्या पताका थीं। उनके मुख पर ज्ञान का ओज था, तो अहिल्या मानो मूर्तिमंत भक्ति थीं। वे वेद थे, तो वे उनकी परायणा श्रुति थीं। ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, तो वह मन्त्र-शक्ति। शास्त्रानुसार धर्माचरण करती हुई अहिल्या पति का वैसे ही अनुकरण करतीं, जैसे कुमुदिनी चन्द्रमा का। देवगुरु बृहस्पति के यहां जैसे तारा और वशिष्ठ जी के यहाँ अरुंधती शोभा पाती थीं, वैसी ही शोभा गौतम जी के यहां अहिल्या जी की थी।

महामुनि के आश्रम में सहस्रों छात्रों का निवास था। कोई आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले थे, तो कोई दर्शन के विद्यार्थी थे। कोई-कोई केवल उपनिषद की अपौरुषेय विद्या के ही अधिकारी थे। कोई चित्त की वृत्तियों का निरोध कर योगाभ्यास में रत थे। कुछ गुरु-भक्ति के अनुपम आदर्श को उज्ज्वलता प्रदान करने के हेतु सहस्रों गौओं की ही गुरुतर

व्यवस्था में रत रहते थे। इन सहस्रों छात्रों का प्रबन्ध विदुषी अहिल्या की बुद्धिमत्ता से ही नियमित होता था। सभी शिष्यों की मातृवत् सार-संभाल और भला किससे हो सकती थी ! शिष्यगण भी गुरु-पत्नी का अहैतुक प्रेम पाकर तपस्वी जीवन की कठोरताओं का विस्मरण कर अपने-अपने स्वाध्याय में और भी उत्साह दिखाते थे। उनमें स्वयं ही ज्ञान के अंकुर फूटते थे, जैसे सूर्य का जीवनदायी स्पर्श पाकर कमल की पंखुड़ियां खिल जाती हैं। गुरु-भक्ति से वे महामुनि गौतम को उसी प्रकार सन्तुष्ट रखते थे जैसे विभिन्न नद समुद्र को प्रसन्न रखते हैं। गौतम भी उन्हें कृपा-कटाक्ष से कृतार्थ करते थे। उनमें से तप में निपुण शिष्य अपने तप में सिद्धि प्राप्त कर लौटते, योगी अष्टसिद्धियों का रहस्य उद्घाटित करते और गृहस्थ में लौटने की कामना करने वाले आश्रम धर्म में पारंगत हो गुरु को दक्षिणा से सन्तुष्ट कर लौट जाते। गौतम के इन छात्रों एवं शिष्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही होती थी कि वे आजीवन अभिमान-शून्य रहते थे। ऋषि का ऐसा सद्व्यवहार, प्रताप और गरिमा, स्नेह और उदारता देखकर बहुत से शिष्य तो अध्ययन की अवधि समाप्त होने पर भी आश्रम से जाना नहीं चाहते थे। आश्रम छोड़ने की कल्पना उन्हें कभी-कभी वैसी ही दारुण प्रतीत होती, जैसी शरीर-त्याग की सम्भावना। निश्चय ही, ऐसे उच्च कोटि के शिष्यों को महामुनि गौतम का विशेष स्नेह, वात्सल्य प्राप्त होता था। अहिल्या भी उन्हें वैसा ही आत्मज समझतीं, जैसे कि उनके सर्वगुण सम्पन्न पुत्र थे, शतानन्द और चिरकारी।

पर, इन शिष्यों में एक ऐसा परम गुरुभक्त शिष्य भी था

जिसे ऋषि-पत्नी शतानन्द और उसके अनुज चिरकारी से भी अधिक वात्सल्य देती थीं। वे थे मुनिकुमार उत्तंक। परम तेजस्वी भृगु के वंशज वे मुनिकुमार गौतम के आश्रम में वैसे ही रहते थे, जैसे पिप्लाद के पावन आश्रम में सुकेश, अथवा अंगिरस के आश्रम में शौनक जी। ज्ञान और असंगता में उत्तंक रैक्व मुनि की समता रखते थे। और कभी-कभी जड़ भरत की भांति ही सबकी कठिन सेवा में तत्पर हो जाते थे। जैसे सत्य-काम जाबाल की सत्यप्रियता प्रसिद्ध थी, ऐसे ही उत्तंक की वाणी में भी सत्य प्रतिष्ठित था। अहंकार-शून्य उत्तंक कब शयन करते हैं, कब भोजन करते हैं, कब अन्य प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, यह कोई आश्रमवासी कदाचित ही देख पाता। तप करते हुए भी उन्हें कोई नहीं देख पाता था। उनका सारा ध्यान गुरु गौतम की सेवा में ही केन्द्रित रहता था। उनकी छोटी-छोटी सुविधा को भी वह ठीक उसी प्रकार सतर्कता से पूरा करने में प्रयत्नशील रहते, जैसे कोई तन-पोषक अपने नश्वर शरीर की ही सार-संभाल में लगा रहता है। योग की सिद्धि में वे सौभरि मुनि के सदृश थे। क्रोध, लोभ, काम उनसे ऐसे ही दूर रहते थे, जैसे शांत भाव से बैठे सिंह-किशोर को देख मत्त हाथी भी दूर से ही प्राणों के लिए ही चिंतित होकर भागता है। गौतम जब शयन करते थे, तो उत्तंक चरण पलोटते थे। वे निद्रामग्न हो जाते तो समीप ही बैठकर प्रणव का जाप करते हुए समाधि लगा लेते। ब्रह्म मुहूर्त से पूर्व ही वे चैतन्य हो जाते और गुरु की सेवा में नियुक्त चुनी हुई गौओं की टहल करने के पश्चात् समिधा लाने वन में

चले जाते । यज्ञादि का समस्त कर्मकाण्ड वे ही सम्पन्न कराते । यज्ञ के लिए कुशा एकत्र करने में उनकी अंगुलियों से कभी-कभी रक्त बाहर आ जाता था, पर उन्होंने कभी कोई उपचार नहीं किया, न दुःख माना । गुरु-पत्नी के लिए पुष्प चयन भी वही करते । आश्रम के लिए राजाओं द्वारा प्रदत्त भूमि में यदा-कदा हल चलाने में भी उत्तंक आगे रहते । उनका समस्त आचरण परशुराम के पावन भृगु वंश के अनुरूप ही था । गौतम मुनि का इतना स्नेह एवं विश्वास उत्तंक को प्राप्त हुआ था कि आश्रम छोड़कर कभी प्रवास जाने पर मुनिश्रेष्ठ अपनी अनुपस्थिति के लिए उत्तंक को ही आश्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था के नियंत्रण में नियुक्त कर जाते थे। अनेक अवसरों पर उत्तंक की कठोर परीक्षा के क्षण उपस्थित किये गये थे, पर वे सदैव असफलता को वैसे ही रौंदते रहे जैसे अश्वमेध-यज्ञ की कामना वाला चक्रवर्ती राजा अन्य राजाओं को थोड़े से ही उद्यम से परास्त कर डालता है ।

उत्तंक जब गौतम मुनि के आश्रम में आए थे तो उनके श्मश्रु (मूंछ) के स्थान पर रोम दृष्टिगत नहीं हुए थे, तथापि उन्हें बृहदारण्यक आदि एकादश उपनिषदों का ज्ञान था । आश्रम-प्रवेश के समय गौतम मुनि ने उनसे वंश आदि का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त यह प्रश्न किया था—"मुनिकुमार ! जान पड़ता है तुमने इस अल्पायु में ही ज्ञान का श्रद्धापूर्वक प्रचुर अर्जन किया है । क्या तुम जानते हो कि इस जीवन का लक्ष्य क्या है ?"

तब अत्यन्त विनम्र वाणी में उत्तंक ने उत्तर देते हुए

कहा—"यदि मुझे आपका आशीर्वाद प्राप्त है, तो जो मैं कहूंगा, सत्य होगा। मुनिश्रेष्ठ! जीवन अत्यन्त तुच्छ एवं अल्प है। अतः इसे प्राप्त कर मनुष्य को आत्म-कल्याण के लिए ही उद्योगशील होना चाहिये।"

उत्तंक के उत्तर से गौतम ऋषि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए तथापि उन्होंने फिर प्रश्न किया—"वत्स, आत्म-कल्याण से तुम्हारा क्या प्रयोजन है?"

"महाभाग! मोटी सी बात मैंने जैसी समझी है, वैसी ही आपसे कहता हूँ। जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करना ही सच्चा आत्म-कल्याण है।"

"तो इसका साधन क्या है, मुनिकुमार उत्तंक?"

"मुनिश्रेष्ठ! मैंने इस सम्बन्ध में अपना एक ही आदर्श बनाया है..."

"वह क्या?" गौतम मुनि की रुचि उस नए मुनिकुमार में बढ़ चली थी।

"गुरुश्रेष्ठ, संक्षेप में ही अपना तात्पर्य स्पष्ट करता हूँ। बात सुगम है, पर आचरण कठिन है, जैसा कि सभी श्रेष्ठ बातों के विषय में होता है। त्रिकाल-द्रष्टा ऋषियों ने संकेत कर दिया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यक ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अंतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥"

उत्तंक के मुख से यह मन्त्र सस्वर सुनकर गौतम मुनि

गद्गद् हो गए और उत्तंक को गले से लगाकर बोले—"ब्र-चारो ! तुम्हारी ईश्वर में भक्ति हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें सत्य, ब्रह्मचर्य, सम्यक् ज्ञान का प्रशस्त मार्ग और महत्त्व ज्ञात है, तुम अल्पकाल में ही ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हो जाओ ! ......पर, यह तो बताओ, जब तुम्हें साधन ज्ञात हैं तो सिद्धि तक पहुंचने में ही क्या कठिनाई है ? तुम अपने मार्ग पर सीधे क्यों नहीं चल पड़े, उत्तंक ?"

.......गौतम मुनि की वाणी में उत्तरोत्तर जिस आत्मीयता का मृदुल चढ़ाव आया था, उससे उत्तंक द्रवित हो गए। गद्-गद् गिरा से वह बोले—"मुनियो में सर्वश्रेष्ठ गौतम जी ! आप मेरी असमर्थता से परिचित हैं। क्या गुरु के अभाव में कोई विद्या सफल हुई है ? कृपा कर मुझे भी शिष्य रूप से ग्रहण करें। गुरु-भक्ति का अत्यन्त दुर्लभ अवसर प्रदान कर, मेरे आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कीजिये। मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं आरुणि और उपकोशल[1] की कोटि का गुरुभक्त बन सकूं।" उत्तंक की इस विनयशीलता से गौतम मुनि भी नवनीत की भांति द्रवित हो गए और विदेश से सफलतापूर्वक लौटने वाले एकमात्र पुत्र को जैसे कोई पिता कण्ठ से लगा लेता है, वैसे ही उन्होंने उत्तंक को अपनी प्रसन्नता से फूली हुई छाती से लगा लिया और अवरुद्ध कण्ठ से ही बोले—"वत्स ! तुम अवश्य हमारे आश्रम का गौरव बढ़ाने वाले सिद्ध होगे। मुनि-कुमार ! तुम जिस प्रकार चाहो, अपनी इच्छाओं का आदर करते हुए इस आश्रम में चिरकाल तक निवास करो।"

---

१. आरुणि और उपकोशल की कथाएं कृपया परिशिष्ट में देखिए।

आह्लादपूर्ण ,वाणी में उत्तंक ने कहा—"महाभाग ! मैं आपकी सेवा में ही निरंतर निरत रहूँ, इससे बढ़कर मेरी और इच्छा क्या हो सकती है ?"

मनोवांछित फल पाने वाले की प्रसन्नता की जिस प्रकार कोई तुलना नहीं है, वैसे ही उत्तंक को उस समय अपने मनोरथ की पूर्ति में जो सफलता प्राप्त हुई, उसकी भी कोई उपमा नहीं है। सचमुच ज्यों-ज्यों, उत्तंक मुनिश्रेष्ठ गौतम के आश्रम में समय व्यतीत करते गये त्यों-त्यों वे निरुपम ही सिद्ध हुए। यहाँ तक कि एक बार इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने कमला नदी के तल में बैठकर एकतालीस दिवस की समाधि लगाकर स्वयं गौतम मुनि तक को चकित कर दिया। इसके कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने योगबल से अपने में अहिंसा की स्थिति अत्यन्त दृढ़ कर ली और इस प्रकार हिंस्र जन्तु उनके निकट आकर परस्पर वैर-त्याग देते थे। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः' का सूत्र उनके जीवन में घट गया। ऐसी घटनाएं उनके जीवन में अत्यन्त साधारण ढंग से होती रहीं। और उनका अहंकार सिद्धि की हर चढ़ती हुई सीढ़ी के साथ वैसे ही अदृश्य होता गया, जैसे आकाश में ऊपर उड़ता हुआ पक्षी उत्तरोत्तर छोटा दिखाई देते-देते अन्त में दृष्टि से ओझल हो जाता है। यही एक ऐसा विलक्षण गुण था उत्तंक में, कि वे गुरु के अत्यंत प्रिय शिष्य हो गये थे और उनके नाम के साथ भी गौतम ने 'मुनि' संयुक्त कर दिया था।

इसी बीच एक बार अत्यंत दुरूह परीक्षा का समय उत्तंक के समक्ष आ उपस्थित हुआ। पूर्ण यौवन की अवस्था

में वे पहुँच चुके थे। साथ ही उनकी तपोनिष्ठा, गुरुभक्ति और विद्वत्ता का सूर्य भी दूर-दूर दिशाओं में फैल चुका था। इतना होने पर भी उनके सरल आचरण में एवं सौम्य प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आया था। नित्य नियम के अनुसार जब वे एक दिन वन में काष्ठ संचय कर रहे थे तो सहसा किसी अत्यंत कोमल नारी कंठ ने उन्हें पुकारा—"मुनिकुमार, उत्तंक! मेरी रक्षा करो। मैं यहाँ पंक में फँस गई हूँ।"

स्वर दक्षिण दिशा से आया था। अतः उत्तंक ने, जिस वृक्ष पर चढ़े वे काष्ठ काट रहे थे उसी की और ऊँची डाली पर चढ़कर दक्षिण दिशा में देखा। इसी समय एक बार पुनः वही आवाज़ सुनाई पड़ी। उत्तंक तुरंत वृक्ष से नीचे उतर आये। मन में एक उद्विग्नता भर गई। उनका ऐसा विश्वास था कि ब्रह्मचर्यावस्था में नारी का किसी भी प्रकार का संसर्ग दुखदायी होता है और व्रत-भंग करने का कुअवसर भी उपस्थित हो सकता है, अतः इस पंक में फँसी अपरिचित नारी के प्राणों की रक्षा कैसे की जाये? इतना सोचते हुए भी वे किसी अज्ञात प्रेरणा से उस आपद्ग्रस्त नारी-स्वर की ओर बढ़े। पर, सहसा यह सोचकर कि इसने मुझे नाम लेकर पुकारा है, और कोई भी परिचित नारी अथवा आश्रम की ब्रह्मचारिणी यहाँ इस गहन अगम्य वन में नहीं आ सकती, अतः कोई मायावी स्वर ही न हो, वे ठिठक गये। परंतु, उसी क्षण वही स्वर और भी आर्त होकर उनके कानों में पड़ा और कुछ-कुछ परिचित भी जान पड़ा। वे दौड़े। पर अंतर मन बोल पड़ा, 'ग्रीष्म ऋतु जैसे सरोवर को जलहीन कर देती है, उसी प्रकार ग्रीष्म-सी

आतपदायी नारी भी जप-तप रूपी सरोवर को शुष्क कर देती है।' उनकी गति फिर मध्यम हो गई। पर वे कुठार छोड़कर थोड़ा और आगे बढ़े तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सामने ही कीकर के वृक्षों से घिरे पोखर के पंक में घुटनों तक धँसी खड़ी थी, मधुपुष्पा! गौतम मुनि की वयप्राप्त कन्या, माता अहिल्या की तरह ही रूपवती, मधुरभाषिणी और विशाल-लोचना। उत्तंक भय से काँप उठे। आपद्ग्रस्त महिला को बचाने में उन्होंने विलम्ब करना उचित न समझा। फिर मधु-पुष्पा तो गुरुकन्या होने के नाते भगिनी सदृश ही थी। तथापि उनके मन में यह आश्चर्य उस समय भी बना हुआ था, कि यह यहाँ आई तो आई कैसे?

आगे की ओर दौड़ते हुए उन्होंने विस्मित वाणी में इतना ही कहा—"मधुपुष्पा! तुम यहाँ क्यों आईं, किसकी आज्ञा से आईं?"

"मुनिकुमार!" पीड़ित स्वर में मधुपुष्पा ने कहा—"यह प्रश्न कृपा कर पीछे कीजिएगा। पहले मुझे इस संकट से उबारने की चेष्टा कीजिये। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैं नीचे धरा में समाई जा रही हूँ।"

उत्तंक ने शीघ्रतापूर्वक काष्ठ का एक लम्बा टुकड़ा पोखरे के तट से मधुपुष्पा तक बिछा दिया। इस ओर पंक इतना घना नहीं था। अतः काष्ठ उसमें धँसा नहीं। उत्तंक के निर्देशानुसार रूप-लावण्यमयी मधुपुष्पा काष्ठ पर लेटकर अगले हाथों को टेकती हुई रेंगकर पोखर से बाहर आने में सफल होगई। उसने उत्तंक के समीप ही खड़ी होकर नेत्र झुकाकर कहा—"मुनिकुमार!

आज आप यहाँ न होते तो मेरे प्राण संकट में पड़ जाते।"

"पर, तुम्हें यहाँ आने के लिए किसने कहा था? इस अगम्य गहरे वन में क्या मेरे पीछे आई हो?"

"तपस्वी उत्तंक! मैं केवल कौतूहलवश चली आई थी, देखूँ तो आप काष्ठ किस प्रकार लाते हैं।"

उत्तंक ने सोचा, 'सौभरि मुनि सैकड़ों वर्ष यमुना-जल में समाधि लगाने के पश्चात् समाधि से उठने लगे तो एक मत्स्य-परिवार की क्रीड़ा देखने से क्षण मात्र के संसर्ग में ही योगभ्रष्ट हो गए। क्या यह भी मेरी परीक्षा का समय तो नहीं है!' किंचित उद्विग्न होकर वे बोले—"मधुपुष्पा! मैंने मनुस्मृति में पढ़ा है, मनुष्य को एकान्त में तो अपनी माता और पुत्री के साथ भी नहीं रहना चाहिये, अतः तुम उस सरोवर की पक्की बनी सीढ़ियों पर अपने पंक धूसरित चरण धोकर, जिस मार्ग से आई हो उसी मार्ग से लौट जाओ।"

"मुनिश्रेष्ठ! आप तो सब दोषों से मुक्त हैं। आपने परम भागवत नारद जी की भांति ही काम पर विजय प्राप्त की है। मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि देवयानी अपने पिता के शिष्य बृहस्पति-सुत कच पर आसक्त हो गई थीं, पर आप में मेरा कोई अनुराग नहीं हुआ है, अतः आपको कार्पण्य दोष से मुक्त रहकर अपने कर्तव्य में संलग्न होजाना चाहिए। मैं आपके कार्य में अब किसी प्रकार की बाधा न बनूँगी।" इतना कहकर मधुपुष्पा उस निर्मल जलाशय की ओर बढ़ गई, जिसकी ओर उत्तंक ने संकेत किया था।

उत्तांक उसी वृक्ष की ओर बढ़े, जहां से वे काष्ठ संचय कर

रहे थे। पर कुठार को सशक्त हाथों में उठाते हुए उत्तंक को स्मरण हो आया कि सरोवर के तट पर पक्की सीढ़ियां भी काई से आक्रान्त हैं और वे स्वयं एक बार पैर फिसलने से जलाशय में गिर गए थे। तैरना न जानते होते तो उस दिन उनके प्राण भी संकट में पड़ जाते। ऐसा स्मरण होते ही उत्तंक ने उच्च-स्वर में वहीं खड़े-खड़े कहा—"मधुपुष्पा ! संभल कर जाना। सरोवर के किनारे काई पर पैर फिसल गया तो पुनः संकट उपस्थित हो सकता है।" असंगभाव से उत्तंक ने पुनः वृक्ष पर चढ़कर कुल्हाड़ी चलानी आरम्भ कर दी। मन में रह-रह कर यही बात उठ रही थी कि मधुपुष्पा ने जैसा व्यवहार आज किया, वैसा पहले कभी नहीं किया। अवश्य इसमें कोई रहस्य रहा होगा। शुष्क काष्ठ को वृक्ष से गिराते हुए उनके हृदय में इस रहस्य को जान लेने की इच्छा ने उत्कट रूप धारण कर लिया। मन में आया कि लकड़ी काटना छोड़कर पहले मधुपुष्पा से उसके इस असाधारण दुःसाहस का कारण जान लेना चाहिये, क्योंकि बिना कारण के कार्य होना असंभव है। पर मन की गति को पहचानने वाले मुनि उत्तंक ने अपने मन को उधर जाने से रोक लिया और जल्दी-जल्दी केवल काष्ठ काटने में ही लगे रहे।

सहसा उन्हें सुन पड़ा—"मै अब आश्रम लौट रही हूँ, मेरे विषय में चिंता न कीजियेगा।" मधुपुष्पा ठीक उसी समय उस वृक्ष के नीचे खड़ी हुई कह रही थी। उत्तंक के सशक्त हाथों से कुठारी का वार खाकर उसी समय एक बड़ा काष्ठ-खण्ड नीचे गिरा और मधुपुष्पा बाल-बाल बच गई। उत्तंक मुनि की

दृष्टि नीचे गई और वे स्वेद कणों से भीज से गए। वे शीघ्र नीचे उतर आये और लगभग ताड़ना के स्वर में बोले—"क्या तुम्हारे लिए यहां आना उचित था? तुम देख नहीं रही हो कि इस वृक्ष से काष्ठ खण्ड नीचे गिर रहे हैं? क्या कारण है, आज तुम अपने प्राणों को हारने के लिए उतावली प्रतीत हो रही हो?"

"नहीं, मुनिकुमार!" किंचित मुस्कराकर मधुपुष्पा ने कहा—"बात यह है कि तपस्वियों का संग कल्याणकारी होता है, अतः मैंने सोचा कि आप जैसे अनुपम तपस्वी और कहाँ मिलेंगे, क्यों न आपका संग कर अपना कल्याण मार्ग प्रशस्त करूं।"

उत्तंक लकड़ियां समेट कर बांधने लगे, मानो संकेत कर रहे हों कि मधुपुष्पा तुमने मेरी ओर आसक्ति की मोह-सिक्त रज्जु का विस्तार किया हो तो उसे समेट लो। और लकड़ियों का ढेर समेट कर उन्होंने बांधते हुए कहा—"देखो, बहन! यह संकट काल इस प्रकार व्यतीत करने के लिए नहीं है। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि इस एकान्तवन प्रदेश में मुझे अकेला ही छोड़कर तुम तुरंत आश्रम में लौट जाओ। यदि तुम स्वेच्छा से आई हो, तो सम्भव है, माता जी तुम्हारी अनुपस्थिति से चिंतित हो तुम्हारी खोज में कुछ ब्रह्मचारियों को वन में भेज दें।"

"आप ठीक कहते हैं। पर मैं स्वेच्छा से नहीं आई हूँ। मैं यही जानना चाहती थी, मुनिकुमार! कि आप गृहस्थाश्रम में कब लौटेंगे, आपकी विद्या तो सफल हो ही चुकी है?"

यह सुन आश्चर्यचकित रह गए उत्तंक, "देवि ! यह प्रश्न तुमने किसकी प्रेरणा से किया है, और तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? तुम्हें भलीभांति ज्ञात हो है कि समस्त आश्रमवासी मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करने के निश्चय से परिचित हैं। परमधाम की प्राप्ति कराने वाले इस आश्रम से उत्तम और कोई आश्रम नहीं है !"

"पर, मुनिकुमार, मैंने तो यही जाना है कि सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है और वही अन्य तीनों आश्रमों का आश्रय है।"

"हे भगिनी !" उत्तंक ने किंचित खीजकर उत्तर दिया, "मैं इस विषय में तुमसे कोई विवाद करना नहीं चाहता। मेरे लिए क्या कल्याणकारक है, मैं स्वयं उसका भली प्रकार निर्णय कर चुका हूँ। तुम जा सकती हो; अब मैं इस एकान्त वन प्रदेश में और संलाप नहीं करूंगा। और यदि भयवश तुम अकेली नहीं लौटना चाहती हो, तो मेरे आगे-आगे तुम्हें मौन चलना ही शोभा देगा।"

मधुपुष्पा यह सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़ी। भयंकर झंझावात में भी जैसे कोई शुष्क शिलाखण्ड अचल खड़ा रहता है, उसी प्रकार मधुपुष्पा की इस रहस्यमय हँसी का मुनि उत्तंक पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे काष्ठभार उठाकर गंभीर भाव से और तीव्र गति से आश्रम की ओर लौट चले। गहन वन की टेढ़ी-तिरछी पगडण्डी पर मधुपुष्पा उत्तंक के आगे-आगे उसी प्रकार चली, जैसे एक वन में छिटकी हुई गाय घेर कर लाने वाले ग्वाले के आगे-आगे चुपचाप दौड़ती चलती है।

मधुपुष्पा से तब रहा न गया, सत्य में भली प्रकार प्रतिष्ठित मुनि उत्तांक के प्रभाव से वह अपने हृदय का सत्य उद्घाटित करने लगी, "मुनिकुमार, मुझसे आपका अपराध हुआ है। क्षमा करें।" उसकी वाणी पश्चात्ताप से विगलित जान पड़ती थी।

"कैसा अपराध, देवी ? जैसे सखा सखा के आगे, पत्नी पति के समक्ष और शिष्य गुरु के सामने सदैव क्षम्य हैं, उसी प्रकार भगिनी भी भ्राता के सम्मुख क्षम्य ही है। मैं नहीं जानता कि तुमसे कोई अपराध हुआ है, यदि हुआ भी है तो अपने को निर्भय मानने में तुम्हें संकोच नहीं होना चाहिये।"

"मुझे भइया शतानन्द और उनके कुमारहारित एवं अतापी नाम के दो सहपाठी आश्रमवासियों के दुराग्रहवश ही आपकी परीक्षा के अनावश्यक कार्य में उद्यत होना पड़ा। वस्तुतः आप शिशिर ऋतु के श्वेत मेघों की भांति निष्कलंक हैं, आकाश की भांति असंग हैं, आपने वह ब्रह्म रूपी जलाशय प्राप्त कर लिया है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् अन्य साधनों रूपी छोटे जलाशयों में किसी का प्रयोजन नहीं रह जाता। मुनिश्रेष्ठ, आपके तेज से मैं कहीं भस्मीभूत न हो जाऊं! मुझ भयविकंपिता को क्षमा कीजिये।"

"श्रेष्ठ भगिनी ! तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं होना चाहिये। मेरा भी किंचित संशय दूर हो गया। मेरे लिए आज का दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं आल्हादकारी है कि मैं भइया शतानन्द को सन्तुष्ट करने में उत्तीर्ण हो गया।"

उत्तांक का ऐसा निर्वैर-सूचक उद्गार सुनकर तो मधुपुष्पा

मानो भूमि में गड़ चली। किंचित भयभीत हो उसने कहा—"मुनिश्रेष्ठ! मैं तो आपके तप एवं ज्ञान के विषय में तनिक भी संदिग्ध न थी, मैंने भइया शतानन्द से भी यही कहा था। परन्तु, उन्होंने ही मुझे इस अनुचित पथ में धकेल दिया। आप उन्हें भी क्षमा करें और कृपा कर इस वृत्तान्त को हमारे तपोनिष्ठ पिता जी तक न पहुँचाएँ।"

"मधुपुष्पा! जान पड़ता है, तुम अब भी उत्तंक को नहीं पहचान पायीं।"

"पहचान चुकी हूँ, मुनिकुमार!" कहते-कहते मधुपुष्पा की वाणी अवरुद्ध हो गई और उसके कनपटियों तक फैले हुए विशाल नेत्र पश्चात्ताप के आँसुओं से गीले हो गए।

मधुपुष्पा ने यद्यपि उत्तंक से मना किया था कि उसके पिता गौतम मुनि तक यह वृत्तान्त न पहुँचे, किन्तु आश्रम लौटने पर एकान्त पाते ही उसने स्वयं पिता जी की गोद में मुँह छिपाकर रुदन से अवरुद्ध वाणी में सारी घटना का वर्णन कर दिया। गौतम मुनि के निकट उस दिन से उत्तंक तपे हुए कुन्दन को भांति और भी निर्मल एवं श्रेष्ठ तपस्वी हो गए। मधुपुष्पा के सत्याचरण से प्रसन्न होकर उन्होंने उसे भी तेजस्विनी और सर्वगुण सम्पन्न होने का आशीर्वाद दिया। पर, शतानन्द को उन्होंने बिना कोई कारण बताए दस वर्षों तक हिमालय के मानसरोवर प्रदेश में जाकर तप करने की आज्ञा दे दी। उनकी इस कठोर आज्ञा से अहिल्या यद्यपि विचलित न हुईं थीं तथापि जिस समय विदा होते हुए शतानन्द को कण्ठ से चिपटाकर उत्तंक करुण स्वर में रोने लगे तो अहिल्या सहित अन्य

आश्रमवासियों का धैर्य भी टूट गया। गौतम के चरणों में मस्तक नवाकर शतानन्द ने उत्तांक के चरणों में भी शीश झुकाया तो उत्तांक ने उसे उसी प्रकार हृदय से लगा लिया जैसे चित्रकूट में राम ने भरत को हृदय से लगा लिया था। माता अहिल्या से भेंट करते हुए शतानन्द ने आर्द्र कंठ से कहा—"माता जी, आप तो समस्त धर्मों की ज्ञाता है, उत्तांक मुनि मेरे लिए सहोदर से भी बढ़कर हैं। इनको आप मेरे समान ही समझें और तनिक भी शोक को प्राप्त न हों।"

मधुपुष्पा ने भाई को भेंटते हुए किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से अश्रु रोके, पर वह विछोह की उस शुभ बेला में कुछ न बोल सकी।

शतानन्द के प्रस्थान के एक सप्ताह पश्चात् ही गौतम मुनि अपनी परम रूप-लावण्यमयी धर्मपत्नी अहिल्या सहित महामुनि वशिष्ठ जी का निमंत्रण पाकर राजा सौदास के जन्म दिवस पर आयोजित विशेष उत्सव में भाग लेने अयोध्या चले गए। उनके साथ ही उत्तम बैलों वाले सुविस्तृत रथ में मधुपुष्पा भी गई। जाते समय मुनि गौतम आश्रम की सारी व्यवस्था का भार अपने प्रिय शिष्य उत्तांक के हाथों में सौंप गए।



मदयन्ती की साधना

अयोध्या की वीथियां उस दिन बन्दनवार और पताकाओं से सज गई थीं। उनमें सुगन्धित जल से वर्षा की गई थी और उनके दोनों ओर राज-उद्यान से लाकर गेंदा, गुलाब के पौधे सजाए गए थे। प्रजा ने अपने गृहों के प्रवेश द्वारों पर कदली के खम्ब खड़े किये थे और आम्र के चिकने-चिकने किसलयों की बन्दनवारें लगाकर रंग-बिरंगे गुलालों से चौक पूरे थे। अनेक गृहों के बाहर कंचन के कलश रखे थे, जिन पर वरुण की मांगलिक आकृतियां बनाई गई थीं। यह सजावट देखकर ऐसा प्रतीत

होता था मानो विष्णु अर्धांगिनी रमा सहस्रों रूप धारण कर प्रत्येक के घर में पधारने वाली हैं। प्रजावासी सोत्साह राज-प्रासाद में जाने की तैयारियां कर रहे थे। नव-परिधान से सजी हुई नगर-वधुएं स्थान-स्थान पर कंचन थालों में आरती संजो रही थीं। कुमारी कन्याओं में तो विशेष आह्लाद छाया था; क्योंकि उन्हें अपनी प्रिय साम्राज्ञी से आभूषण प्राप्त करने का ऐसा अपूर्व गौरव प्राप्त होने जा रहा था, जिसे वे आजन्म अपनी हृदय-गुहा में सुरक्षित रखने के लिए लालायित रहेंगी। राज-प्रासाद के सिंहद्वार पर नगाड़े, शहनाई और तुरही का मनमोहक एवं कर्णप्रिय नाद हो रहा था, जो पवन के शीतल झोंकों पर चढ़ा नगर के प्राय: सभी कोनों में पहुँच रहा था।

प्रातःकाल ही राजा सौदास को जब दो ब्रह्मचारियों ने मुनिश्रेष्ठ गौतम जी के आगमन की सूचना दी, तो वे अपने वायुगति से दौड़ने वाले अश्वों के रथ पर सवार हो मदयन्ती सहित उनका स्वागत-सत्कार करने नगर के बाहर आये। मुनि गौतम का रथ दूर से ही आता दिखाई दे रहा था। उनके पीछे और भी रथ आ रहे थे। जैसे सूर्योदय से पूर्व ही उसका प्रताप आगे-आगे आता है, वैसे ही मुनिश्रेष्ठ के आगे आने वाले रथों से वैदिक मंत्रों का घोष और शंख-ध्वनि राजा के कानों तक आ चुकी थी। कुछ ही क्षणों में नगर के बाहर वाली सघन अमराई में गौतम मुनि पहुँच गए। राजा सौदास ने सपत्नीक उनके पावन चरणों में मस्तक नवाकर प्रणाम किया और मुनि का आशीर्वचन सुनकर अपने को कृतार्थ माना।

तब अत्यन्त विनम्र स्वर में राजा सौदास ने कहा—"महा-

राज ! मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ ?"

"राजन् ! जहां प्रजा का पालन पुत्रवत् होता है, वहां किसी को पीड़ा नहीं होती। फिर आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के ही वशंज हैं। आपके राज्य में किसी को कष्ट क्यों हो !"

सौदास ने अपनी ग्रीवा और भी झुकाकर अपनी विनयशीलता और श्रद्धा का परिचय दिया। उन्होंने कहा—"भगवन्, यह रमणीक उद्यान वही है जहां राज्याभिषेक के पश्चात् श्री राम भ्राताओं सहित विहार करते थे। यहीं उनसे एक बार सनकादि ऋषि भेंट करने आये थे। आपके विश्राम के लिए मैंने यहीं व्यवस्था कराई है। मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी की भी ऐसी ही सम्मति थी। महाराज, आप अपने समुदाय सहित यहीं विराज कर मुझे कृतार्थ करें।"

"आपका विचार बहुत उत्तम है, राजन् ! इस रमणीक उपवन में ठहर कर मुझे निरन्तर राम का स्मरण बना रहने का परम लाभ प्राप्त होगा। बहुत दिनों से मेरी भी इच्छा थी कि परम पावन अयोध्या का दर्शन करूं और सरयू के पापपुँजहारी निर्मल जल में स्नान करूं। सो वशिष्ठ जी की महती कृपा से यह सुअवसर प्राप्त होगया।" कहते-कहते गौतम जी को राम की उस अपार कृपा का स्मरण हो आया जो उन्होंने समाज द्वारा पत्थर की भाँति ठुकराई गई और इन्द्र के पाप, अत्याचार से पीड़ित जड़वत् पड़ी अहिल्या के चरण पूजकर की थी। अहिल्या तब हर्ष विभोर हो पवित्रात्मा राम के चरणों में गिर पड़ी थी। समयानुकूल फल-पुष्पादि से उसने राम का

सत्कार किया था और तब मैं भी विश्वामित्र जी एवं राम-लक्ष्मण का दर्शन कर निष्पाप हुई देवि अहिल्या को हृदय से लगा कृतार्थ हो गया था। उन्हीं भगवान् राम की अपूर्व दया से मेरा निर्जन वन-प्रदेश-सा आश्रम पुनः पावन एवं गौरवमय बन सका। वहां पहले से भी अधिक वनश्री का निवास हुआ, वहां शिष्यों का समुदाय सहस्रों गौओं की सेवा करते हुए पुनः सुख-पूर्वक रहने लगा था।' ऐसा सोचते-सोचते गौतम मुनि आत्म-विभोर होगए। उनकी रोमावली खड़ी हो गई।

परम सुन्दरी अहिल्या तब तक रानी मदयन्ती के साथ उद्यान के भीतर लगे विशाल वितान में पहुँचकर वे स्थान देख रही थीं, जो ऋषि-मुनियों के विश्राम, शयन, स्वाध्याय, यज्ञ और सन्त-समागम एवं सभा के निमित्त पृथक्-पृथक् रचे गए थे। राजा सौदास तो मुनिश्रेष्ठ गौतम की आज्ञा पाकर एवं चार परम चतुर सेवकों को वहां नियुक्त करके चले गए; क्योंकि उन्हें दूसरे उपवनों में ऋषि विश्वामित्र और अश्वल, आर्तभाग, शाकल्य आदि अनेक ऋषियों एवं मुनिकुमारों के ठहरने की व्यवस्था और उनके स्वागत का प्रबन्ध देखना था। परन्तु, मदयन्ती को मृदुलभाषिणी अहिल्या से वार्तालाप करने का जो परम सुख मिल रहा था, वह अभी उससे तृप्त नहीं हुई थीं। अतः वहीं ठहर गईं। उसने रेशमी आसन और मृदु मृगचर्म से सजे सिंहासन पर ऋषि-पत्नी को सादर बैठा दिया। और स्वयं समीप ही एक और चौकी पर बैठ गई। उसने स्नेहवश मधुपुष्पा को अपनी गोदी में बैठा लिया। तथा उसके नागिन से श्यामवर्ण चमकीले केशों पर हाथ फैरती हुई बोली—"आपके

आश्रम में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं है ? वहां के वृक्ष और लताएं आपको समय पर फल और पुष्प तो प्रदान करते हैं न ? उन्मत्त मतंग सरोवरों का जल दूषित तो नहीं करते ? वे उसमें खिलने वाले स्वर्गोपम पद्मपुष्पों को तोड़ तो नहीं फेंकते ? आपने मुनिश्रेष्ठ के साथ पधार कर जो कृपा की है, वह तब तक अपूर्ण ही समझनी चाहिए जब तक आप मुझे अपनी दासी तुल्य समझकर ही कोई सेवा न बताएँ ?"

"देवि मदयन्ती ! मैंने तुम्हारी जैसी ख्याति सुन रखी थी, उसके अनुरूप ही तुम्हें पाया है। तुम्हारी कीर्ति भी देवि सीता की भांति उज्ज्वल और अमर हो ! तुमने जिस विनम्रता से हमारे कुशल-क्षेम का समाचार पूछा है, वह तुम्हारी जैसी साध्वी सूर्यवंश की साम्राज्ञी के अनुरूप ही तो है। तुम्हारी अपूर्व धार्मिक वृत्ति का समाचार सुन-सुनकर मुझे तो यह निश्चय हो गया है कि तुम अत्यन्त पुण्यशीला कोई ऋषि-पत्नी हो और इस जन्म में राज्य-सुख भोगने ही तुम अयोध्यापति की अर्द्धांगिनी होकर पावन भूमि पर अवतीर्ण हुई हो।"

"ऐसा न कहिये, ऐसा न कहिये !" मदयन्ती ने अत्यन्त विनम्र भाव से कहा, "मेरे ऐसे पुण्य कहाँ, जो मैं ऋषि-पत्नी के जैसा त्यागमय, भगवत्-चिंतन के अपूर्व सुख से निर्माज्जित और आसक्ति-विहीन जीवन व्यतीत कर सकूं। मैं तो आपके चरणों की धूलि की समानता भी नहीं कर सकती।"

"तुम ऐसा क्यों न कहोगी, देवि ! हो तो उसी पवित्र कुल की वधू, जिसमें राम जैसे परोपकारी, मर्यादा-रक्षक और विनीत होने के साथ ही प्रतापी राजकुमार हुए हैं। मैं जानती हूँ, सीता

ने वन में जाकर जैसा त्यागमय जीवन बिताया था, वैसा ही जीवन तुम समस्त सुख-वैभव सम्पन्न राजमहिषी होकर भी यहीं बिता रही हो। तुम्हें देखकर मुझे इस समय प्रातःस्मरणीया याज्ञवल्क्य-पत्नी मैत्रेयी जी का स्मरण हो आता है।" अहिल्या का कण्ठ द्रवित हो गया।

मदयन्ती ने विनीत भाव से कहा—"मैत्रेयी जी का चरित्र, यदि आप मुझे भी सुनाएं तो मैं अपने को धन्य मानूंगी, आदर्श चरित्रों का गुणगान करना समस्त कल्याणों को प्रदान करने वाला होता है।....हां, ऋषि-पत्नियों में श्रेष्ठ अहिल्या जी, आप कृपा कर यह फल और मेवा भी स्वीकार करें, तत्पश्चात् विश्राम कर मुझे मैत्रयी जी के आख्यान का सारांश-उपदेश श्रवण कराएं।"

अहिल्या बोली—"देवि ! तुम जो यह हमारा पुष्पों का शृंगार देख रही हो, यह बड़ा विलक्षण है। महामुनि की कृपा से इसमें दैवी गुण आ गया है। ये अलंकार जब तक धारण किये जायेंगे तब तक कभी मलिन नहीं पड़ेंगे और इनसे यह स्वर्गोपम सुगन्ध सदा निःसृत होती रहेगी। इन्हीं अलंकारों के प्रभाव से हमें क्षुधा व पिपासा की अनुभूति नहीं होती। शरीर का बल भी क्षीण नहीं होता....।"

"तो ये पुष्प अलंकार मेरे दिव्य मणि-कुण्डलों से किसी प्रकार हीन नहीं हैं।"—मदयन्ती ने कहा—"जो वस्तु साधारण मनुष्य कठोर पुरुषार्थ से पाते हैं, वही सिद्ध पुरुष तप से सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। आप भले ही क्षुधित न हों, फिर भी राज-उद्यान के इन मधुर फलों में से कुछ तो ग्रहण करें।"

"नहीं महारानी, हमने कुछ काल पूर्व ही सई के तट पर विश्राम किया था, वहीं ऋषियों में श्रेष्ठ हमारे पति देव की कृपा से सब ने समुचित स्वल्पाहार किया था। अतः इस विषय में आपको चिंता नहीं करनी चाहिये। देवि ! मैं तुम्हारी जैसी धर्मपरायणा रानी का समागम पाकर स्वयं धन्य हो गई हूँ। मेरा कर्तव्य है कि तुम्हारी जिज्ञासा शान्त करूँ। देवि ! याज्ञवल्क्य विदेहराज जनक के समय में बड़े प्रतापी ऋषि हुए हैं। उनकी दो धर्मपत्नियां थीं। मैत्रेयी जी एवं कात्यायनी जी, वृद्धावस्था निकट आने पर याज्ञवल्क्य जी गार्हस्थ आश्रम त्यागने का संकल्प कर बैठे। ऐसा विचार कर उन्होंने मैत्रेयी जी से कहा—"देवि, मैत्रेयी, मुझे संन्यास ग्रहण करने की अनुमति दो। मैं गृहस्थ से ऊपर उठना चाहता हूँ। अतः कात्यायनी से तुम्हारा बंटवारा कर दूँ।"

"सचमुच, संन्यास आश्रम ही मोक्ष प्रदाता है।"—मदयन्ती ने कहा—"हमारे कुलपुरुष महाप्रतापी राजा रघु ने भी संन्यास ग्रहण किया था और समस्त वैभव सम्पन्न राज्य अपने यशस्वी पुत्र अज को सौंप कर परम पद प्राप्त कर लिया था। तो मैत्रेयी जी ने उनको अनुमति दे दी ?"

"रानी ! मैत्रेयी जी ने उनसे विलक्षण प्रश्न किया। वह कहने लगीं—यह धन से युक्त सारी भूमि ही मेरी हो जाये तो क्या अमरत्व प्राप्त कर सकूँगी ? याज्ञवल्क्य परमार्थ पथ के सच्चे अन्वेषक और ज्ञाता थे। उन्होंने मैत्रेयी को बताया—संसार की समस्त भूमि, गौएं और स्त्रियां पाकर भी कोई एक अकेला पुरुष भी जब सुखी नहीं हो सकता, तब तू सारा धन

प्राप्त कर अमरता कैसे पा सकेगी ? धन से तो तेरा जीवन वैसा ही हो जायेगा, जैसा भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्य का होता है, धन में अमरता नहीं है।"

"मैत्रेयी जी थीं तो ज्ञानी याज्ञवल्क्य की ही धर्मपत्नी, अतः धन में उनका क्या प्रयोजन हो सकता था। उन्होंने अपने विद्वान पति से प्रार्थना की—'हे भगवन् ! कृपाकर मुझे वही मार्ग बताइये, जिससे अमृतत्व की उपलब्धि हो। जिनसे अमर नहीं हो सकती, ऐसे भोगों को लेकर मैं क्या करूंगी ?

"याज्ञवल्क्य जी को मैत्रेयी पहले भी कात्यायनी की अपेक्षा अधिक प्रिय लगती थीं। इस समय अमृतत्व का साधन पूछकर वह पति की और भी प्यारी हो गईं। याज्ञवल्क्य जी ने उन्हें समीप बैठा लिया और गंभीर वाणी से अमृतत्व का गूढ़ उपदेश करते हुए कहने लगे—देवि मैत्रेयी ! हमें जो भी वस्तु प्रिय होती है, वह आत्मा के लिए ही होती है। पति, पति है, इसीलिए प्यारा नहीं लगता; जब तक वह आत्मा को प्यारा लगता है, तभी तक प्रिय है। इसी प्रकार पत्नी भी तभी तक प्रिय लगती है, जब तक उससे पति को आत्मा को सुख मिलता। संक्षेप में यों जानना चाहिये कि सब अपने प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। अतः यह आत्मा ही स्वयं अपने आप दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। पिता का अपमान कर उससे धन खोसने वाला पुत्र पिता को कैसे प्रिय हो सकता है ? पति से अन्यत्र आसक्ति रखने वाली पत्नी क्या पति को प्रिय हो सकती है ? जब सब अपनी आत्मा को प्रिय लगने के

कारण ही प्रिय हैं तो आत्मा ही एकमात्र ध्यान-योग्य वस्तु है।"

"याज्ञवल्क्य जी ने बड़े साधारण ढंग से मैत्रेयी को सार-भूत तत्व का उपदेश किया।"

"हाँ ! देवि मदयन्ती ! सिद्ध पुरुष इसी प्रकार सूत्र में ज्ञानोपदेश कर देते हैं। मैत्रेयी जी को उन्होंने इस प्रकार उपदेश करते हुए इस शरीर की नश्वरता, इन्द्रियों की परम तत्त्व प्राप्त कराने में उपयोगिता और जीव की नित्यता आदि का ऐसा सुदृढ़ ज्ञान करा दिया कि सांसारिक भोगों की ओर पहले से ही उदासीन मैत्रेयी जी की पराविद्या में दृढ़ स्थिति हो गई। सचमुच देवि, वही धन्य है, जिसने मैत्रेयीजी की भांति समय रहते ही अपना परम हित साध लिया है। और वे लोग तो वास्तव में अधिक प्रशंसनीय हैं जो हमारे राजा जनक की भांति स्वर्ग-तुल्य भोगों से सम्पन्न होकर भी परम तत्त्व में लीन रहते हैं अथवा जो स्वयं तुम्हारी ही भांति प्रजा का पुत्रवत् पालन कर राजकोष को प्रभु की संपत्ति मानकर असंग भाव से परोपकारिता का जीवन व्यतीत करते हैं।"

इतना कह कर जब मुनि-पत्नी अहिल्या जी मौन हो गईं तो रानी मदयन्ती ने उनके चरणस्पर्श करते हुए कहा, "पुण्यशीला अहिल्याजी, आपने जो परम हितकारी वृत्तान्त सुनाया उससे मेरी भोगों में और भी अरुचि उत्पन्न हो गई है। आपकी इस महती कृपा से क्या मैं उऋण हो सकती हूँ ? मेरी एक और समस्या है। दयापूर्वक उसका भी समाधान प्रस्तुत करें। हमारे आर्यपुत्र (पति) अपने पूर्ववर्ती वंशजों की अपेक्षा

धर्मानुयायी कम हैं, उनकी सांसारिक आसक्ति और भोग-परायण वृत्ति से मैं यदा-कदा बहुत खिन्न हो जाती हूँ।"

"देवि ! यह तो समय का प्रभाव है ! ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होगा, लोगों की धर्म में रुचि घटती जायगी और वे विलासी होते जायेंगे। मुझे एक बार मुनिश्रेष्ठ ने यह भी बताया था कि भवष्यि में ऐसा घोर कलिकाल आयेगा कि धर्म की सभी मर्यादाएं ऐसे ही नष्ट हो जायेंगीं, जैसे जल में गिरा हुआ मृत्तिका पिण्ड विलीन हो जाता है। देवि, तुम्हें इस सम्बन्ध में शिखिध्वज और चुड़ाला[1] का इतिहास स्मरण रखना चाहिए।"

"महामहिमामयी अहिल्या जी, मैं चुड़ाला-सी योगिनी कहा हूँ। उसने तो स्वयं ब्राह्मण ब्रह्मचारी का वेष धारण कर अपने पति का देहाभिमान तक छुड़ा दिया था।"

"तब और कोई उपाय क्या हो सकता है, एकमात्र सत्संग और शास्त्र-श्रवण ही सुगम मार्ग है। धर्म से ही विरक्ति होती है।"

"यह सत्य ही है। पर आप तो जानती ही हैं, नृपति, शास्त्र और स्त्री का बार-बार चिंतन करना ही, उन पर अधिकार प्राप्त कराने वाला होता है, पर हमारे आर्यपुत्र से नियमित शास्त्र-चिंतन होना भी संभव नहीं दिखाई देता।"

अहिल्या जी ने कहा—"इस विषय में आप धैर्य रखें। मेरा विश्वास है कि आपकी निःस्वार्थ परोपकार वृत्ति सौदास जैसे दयालु नृपति को पूर्णतः सन्मार्ग पर लाने में सफल होगी।"

---

१. कथा परिशिष्ट में दी गई है।

रानी मदयन्ती ने साथ लायी हुई नाना प्रकार की वस्तुएं अहिल्या जी को भेंट में दीं, पर इस सम्वाद की समाप्ति पर जब वह जाने को उद्यत हुई तो उसने अपने कण्ठ का पुखराज और फिरोजा जैसी मणियों से खचित हार उतार कर प्रसन्नता-पूर्वक मधुपुष्पा को पहना दिया। मध्यान्ह काल से पूर्व ही मदयन्ती राजप्रासाद में लौट आई। पर, वह एक आन्तरिक सन्ताप से घिर चली थी। उसके मन में यह विचार उठ आया था कि, 'जो अलौकिक महिमा आर्यपुत्र इन दिव्य कुण्डलों में बताते हैं, वह तो ऋषिपत्नी के पुष्प अलंकारों में ही निहित है। फिर भी उन्हें कोई अभिमान नहीं। मेरे लिए उन्होंने मणिमय कुण्डल प्राप्त करने के हेतु गुरु वशिष्ठ जी के सामने इन्द्र से याचना की। चक्रवर्ती राजाओं के वंश में स्वयं एक प्रतापी राजा होकर याचना ? राजा होकर याचना ?' ऐसा सोचते-सोचते ही अयोध्यापति सौदास की साम्राज्ञी मदयन्ती के मन में यह आया कि इन दिव्य कुण्डलों को धारण ही न करूं। पर दूसरे ही क्षण अन्तरचेतना जैसे बोल उठी, 'तुम पतिपरायणा हो रानी, पति की प्रसन्नता का आदर रखते हुए आचरण करना ही वस्तुतः नारी का सच्चा सौभाग्य है। सौदास की रुचि का सम्मान यदि करना जानती हो तो इन कुण्डलों को धारण करो और सन्ध्या समय राजा के बाम अंग में सुशोभित हो प्रजा का स्नेह प्राप्त करो और उसे आशीर्वाद दो। ऋषि-पत्नी के अलंकारों से इन मणिमय कुण्डलों की कोई तुलना नहीं। ऋषि-पत्नी से तुमने ठीक ही कहा था कि तुम उनके पैर की धूल के बराबर भी नहीं। वे भूख-प्यास को

चाहें तो तप से ही जीत सकती हैं। इसके लिए पुष्प-गुच्छयुक्त अलकारों की भी उन्हें क्या आवश्यकता ! यही नहीं, जैसा स्वर्ण इन मणिमय उडुगन सदृश कुण्डलों से टपकता है, वैसा ऋषि-पत्नी के वन-अलंकारों से प्राप्त होना असम्भव है।—' मन की इस संकल्प-विकल्प वाली अवस्था में रानी ने अपनी अलंकार-मंजूषा में से एक रत्नजड़ित पिटारी हाथ में ली और उसमें से वे दिव्य कुण्डल निकाल कर एक बार उन्हें ध्यानपूर्वक देखा।

इसी समय राजा सौदास भी अन्तःपुर में आये और रानी को प्रसन्न करने के अभिप्राय से बोले—"रानी ! आज मेरा जन्म-दिवस है। तुम्हारा परामर्श मानकर मैंने आज के दिन होने वाले सभी राजोचित आमोदकारी आयोजनों को केवल सन्त-समागम का रूप दे दिया है। अब से पहले किसी राजा के जन्मोत्सव पर ऐसा आयोजन नहीं हुआ जिसमें प्रजा को देश के श्रेष्ठतम विद्वान, मंत्रद्रष्टा और त्रिकाल-दर्शी ऋषियों का एक ही स्थान पर एक साथ दर्शन प्राप्त हुआ हो। इससे प्रजा के कल्याण की एक सुन्दर परंपरा को जन्म मिलेगा। कहो, तुम प्रसन्न हो न ?"

रानी मदयन्ती मौन रही। सौदास के लिए यह मौन एक अनहोनी घटना के समान था। उसने विस्मय से रानी के मुख पर दृष्टि गड़ा दी। रानी का प्रफुल्ल वदन तुषारग्रस्त कमल की भांति कुम्हलाया हुआ था।

"राजमहिषी !" आकुल स्वर में सौदास ने कहा—"क्या चित्त अस्वस्थ है ? कहो प्रिया, तुम्हें किसने पीड़ा पहुँचाई है ?"

"नहीं, मुझे किसी से पीड़ा नहीं पहुंची है।......"

"तो फिर आज उत्सव के दिन तुम सहसा ऐसी म्लान क्यों हो रही हो, जैसे हाथी द्वारा क्षत-विक्षत हुई कोई कमलिनी हो।"

"यह भी कहना ठीक नहीं है। मैं उदास नहीं हूँ। मैं सोच रही थी..."

"कहो, कहो प्रिया, रुक क्यों गई, क्या सोच रही थी?"

"यही कि आपने अयोध्यापति होकर इन्द्र से मणिमय कुण्डलों को याचना क्यों की?"

"आहः हः हः, तुमने इस इतनी छोटी बात पर सोच किया है? गजगामिनी, तुम नहीं जानती कि मैंने कोई याचना नहीं की। इन्द्र तो हमारे पुराने मित्र हैं, और मित्र से बढ़कर और कोई हित नहीं कर सकता। चाहे मित्र धनी हो अथवा निर्धन, चाहे दुखी हो या सुखी, चाहे निर्दोष या सदोष, मित्र ही सबसे बड़ा हितैषी है। फिर इन्द्र तो सर्वसमर्थ मित्र है। इन कुण्डलों के प्रति कोई विरक्ति दिखाकर मेरे सर्व समर्थ मित्र का अनुग्रह निष्फल न करो। इन कुण्डलों को पूर्ण सावधानी से ग्रहण करो, आज के आनन्दमय वातावरण में प्रजा को दर्शन दे उसकी प्रसन्नता को द्विगुणित करो। ये कुण्डल स्वर्गिक हैं।"

"आप नहीं जानते जो गुण इन दिव्य कुण्डलों में है, और जिन पर आपको बहुत गर्व हो गया है, उनकी समता तो ऋषि-पत्नी अहिल्या जी के पुष्पित अलंकारों में ही है। फिर इन कुण्डलों को धारण करने में तो इनके अपहरण का भय सदा

ही बना रहेगा, उन बन-अलंकारों से किसी को क्या भय हो सकता है ?"

"समझा !" सौदास गम्भीर हो गया, "तो यह ऋषि-पत्नी के सत्संग का ही फल है कि तुम में दिव्य आभूषणों के प्रति विराग जाग उठा है। मेरे उपहार का यह तिरस्कार ?" स्तब्धता के दो क्षण व्यतीत हुए तो सौदास किंचित कुपित होकर बोले, "मैं तत्काल आज संध्या का समारोह स्थगित कर देता हूँ, भंग कर देता हूं। मैं नहीं चाहता कि मेरे जीवन को इतनी शीघ्रता से शून्य निर्जन वन जैसा भयानक बनाने के लिये तुम भोगों से विमुख हो जाओ। ये समस्त ऋषि-मुनि जब लौट जायेंगे, तब मैं बड़े आमोद-प्रमोद से पूर्ववत् ही नृत्य-संगीत आदि का लोकप्रिय आयोजन कराऊंगा।"

मंजुभाषिणी मदयन्ती ने राजा के चरणों में शीश झुका दिया। गिड़गिड़ाकर बोली—"आर्यपुत्र ! ऐसा कदापि न कीजिए। आपको भ्रांति हुई है। मैं इन कुण्डलों को अवश्य धारण करूँगी। आप ऋषि-कुमारों और तपस्वियों को लौटाकर उन्हें अपमानित करेंगे ? उनके क्रोध की अग्नि में आप स्वयं को, और सारे राज्य को नष्ट करा देंगे ? कृपाकर अपना क्रोध शान्त कीजिये। मैं क्षमा चाहती हूँ, नाथ ! मेरा यह तात्पर्य कदापि न था। परम् साध्वी अहिल्या जी ने मुझे ऐसा कोई परामर्श नहीं दिया, आर्यपुत्र ! आप शान्त हो जाइये।" मदयन्ती के मुखमण्डल का ओज फीका पड़ गया और उसके कमल जैसे रतनारे नेत्रों से अश्रु टपकने लगे। तब सौदास ने उसे उठाकर हृदय से लगा साँत्वना देते हुए कहा—"रानी ! अभी हमारा

चौथापन नहीं आया है। मुझे आश्रम व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान है। समय आने पर मैं स्वयं वशिष्ठ जी की आज्ञा से वन में चला जाऊंगा। पर इस समय तुम ऐसा कोई व्यवहार न करना जिसके परिणामस्वरूप प्रजा का उमड़ता हुआ आनन्द-सागर सूख जाय, जैसे राम के राज्याभिषेक का आनन्द मनाने वाली प्रजा का, उनके वनगमन के समाचार से समस्त उछाह नष्ट हो गया था।"

"आर्यपुत्र ! आप जो कुछ कहते हैं, उचित ही है। मेरा प्रयोजन दिव्य अलंकारों के त्याग में नहीं है। मैं तो समस्त भोगों की ओर से ही किंचित विमुख हो चली हूँ। इसका क्या कारण है, मैं स्वयं नहीं जानती।"

"तुम यह बात समझो कल्याणी, कि जीव स्वर्ग के भोगों के लिये नाना प्रकार के कठोर तपों की साधना करते हैं, फिर भी उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। तुम्हें तो यहीं बैठे स्वर्गिक भोग प्राप्त हैं।"

"मैं मानती हूँ, यह सब हमारे पूर्व पुरुषों का ही प्रताप है। उन्हीं की तपस्या का फल हम चख रहे हैं। हमारे इतने पुण्य कहां थे कि हमें त्रिकाल दर्शी ऋषियों की सेवा का सुयोग प्राप्त होता। परन्तु आर्यपुत्र ! स्वर्ग भले ही एक कोरी कल्पना न हो, यह तो आप स्वीकार करेंगे ही कि स्वर्ग का जीव पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आ जाता है। अतः यह मानना होगा कि स्वर्ग से भी उत्तम लोक हैं, और उन्हीं की प्राप्ति का साधन मनुष्य को करना चाहिए।"

अब तक दोनों के सम्मुख स्वर्ण थाल में सजाया हुआ मधुर

भोजन आ चुका था। रानी ने स्वयं अपने एक हाथ में मयूर-पुच्छ निर्मित पंखा लेकर राजा पर डुलाना आरम्भ कर दिया और सेविकाओं को भ्रू-भंगिमा से ही वहां से जाने का संकेत कर दिया।

राजा सौदास बोले—"देवि ! यहीं रहकर मनुष्य अन्य लोकों की चिन्ता छोड़, यदि परोपकार और सत्यनिष्ठा से जीवन यापन करे, तो समझो उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया।"

"हाँ आर्यपुत्र ! आप सत्य कहते हैं ! इस समय मुझे मुद्‌गल ऋषि का आख्यान स्मरण हो आया, जिन्होंने स्वर्ग से आए हुए विमान को लौटाकर कह दिया था कि मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए।"

"अच्छा !" कौतूहल से राजा ने कहा—"वे कहां रहते थे ?"

"आर्यपुत्र ! मुद्‌गल कुरुक्षेत्र में निवास करते थे। वे जितेन्द्रिय ऋषि उंछवृत्ति से रहते थे। पन्द्रह दिनों में खेती से एक-एक कण उठाकर वे एक द्रोण (३२ सेर) अन्न संग्रह करते थे और उसी से इष्टीकृत यज्ञ करते थे। प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को उनका 'दर्शपौर्णमास' व्रत होता था।"

"तो क्या इसी तप के फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग मिल रहा था ?" सौदास ने प्रश्न किया।

'सुनिए, आर्यपुत्र ! वे मुद्‌गल ऋषि अतिथि को खिलाए बिना भोजन नहीं करते थे। ऐसे ऋषियों का तप भंग करने में दुर्वासा मुनि को बड़ा आनन्द आता था। उन्होंने छः बार मुद्‌गल के यहां उसी समय वेश बदलकर धावा बोला, जब वे

अतिथि की प्रतीक्षा में अपनी कुटिया के द्वार पर बैठे होते थे। दुर्वासा ने मुद्गल को कुपित करने की लाख-लाख चेष्टायें कीं, पर वे अपनी इन्द्रियों के वश में न हुए। अन्तिम बार दुर्वासा ने अपना तपस्वी रूप दिखाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर दी और कहा, 'मुद्गल ! संसार में परिश्रम से उपार्जित किए हुए शुद्ध अन्न का हृदय से दान करना ही सबसे कठिन कार्य है। तुमने वही किया है। तुममें ईर्ष्या, द्वेष, राग, क्रोध का पूर्णरूपेण शमन हो चुका है। तुमने लोकों को अपने शुभ कर्मों से जीत लिया है, तुम परम पद के भागी हो। देवतागण तुम्हारी महिमा गायेंगे।'...आर्यपुत्र, उसी समय महर्षि मुद्गल के लिये आकाश से शुभ्र हंसों और सारसों से युक्त एक दिव्य विमान उतरा। उसकी दिव्य गंध से महर्षि का आश्रम सुगंधि से महक उठा। तब उसमें से एक देवदूत उतरा और मुद्गल जी से प्रार्थना करने लगा—'मुने, आपने शुभ कार्यों से स्वर्ग में सशरीर जाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। आप विमान में पधारें तो मै आपको ले चलूँ'।"

"तत्पश्चात् क्या हुआ, प्रिया ?"

"उस देवदूत ने लुभाने के अभिप्राय से मुद्गल जी से कहा—'स्वर्ग में ३३ हजार योजन का स्वर्ण का पर्वत सुमेरू है। वहां न भूख सताती है, न प्यास। न शीत है, न ग्रीष्म ! वह सदा सुख देने वाला स्थान आप जैसे पुण्यात्माओं का ही विहार स्थल है। न वहाँ शोक है, न वृद्धावस्था, न थकावट और न ही यहाँ जैसे दुर्गंध-युक्त शरीर हैं। वहाँ आपको तेजस तत्त्व प्रधान शरीर मिल जायेगा।"

हँसकर सौदास कहने लगे—"तुमने तो प्रिया, ऐसा वर्णन किया है मानो मेरे लिये भी कोई विमान बाहर प्रतीक्षा कर रहा हो !"

"ऐसा न कहें," पतिव्रता, मदयन्ती ने मोती सी दमक वाले दाँतों से अपनी जिह्वा काटते हुए कहा—"आगे सुनिये, मुद्गल ने फिर देवदूत से पूछा, क्या तुम्हारे स्वर्ग में कोई दोष भी है ? तो उस देवदूत ने बताया—पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग-वासियों के गले की मालाएं कुम्हला जाती हैं और उन्हें यह भय बना रहता है कि 'अब गिरे, अब गिरे।' और एक दिन वे अवश्य ही गिर पड़ते हैं। महामते ! ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्ती हैं।—यह सुनकर मुद्गल ऋषि ने कहा—जब तुम्हारे स्वर्ग से एक दिन गिरना ही होता है, तो उसी ज्योतिर्मय लोक की प्राप्ति के लिए उद्योग क्यों न करें जिसे प्राप्त कर लेने के बाद कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रहता। मुद्गल ने देवदूत को निराश लौटा दिया। दुर्वासा मुनि भी उनके विचारों को सुनकर प्रसन्न हुए और लौट गए। मुद्गल ने पूर्ववत् उञ्छवृत्ति से जीवन-यापन करते हुए ब्रह्मपद प्राप्त किया।..."

सुनकर सौदास गंभीर हो गये—"हूं, तो आज मैं समझा कि तुम कितनी ऊँची साधना में रत हो। देवि, निश्चय ही तुम जैसी विवेकपूर्ण सहधर्मिणी पाकर मैं कृतकृत्य हुआ हूँ। आज मेरे जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में तुम जो चाहो मुझसे मांगो, मैं सहर्ष दूँगा, स्वर्गलोक को छोड़कर !"

मदयंतो ने मुस्कराकर स्वामी से कहा—"आर्यपुत्र, मैं

जानती हूँ, आपके लिए कुछ भी अदेय नहीं। पर याचक को सदैव तुच्छता का कलेवर धारण करना होता है। इसलिए मैं बिना याचना के जो भी पा जाऊँगी, उसी में अपने को धन्य मानूँगी।"

"समझा। तुम्हारे इस बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। राजमहिषी, मेरी इच्छा है, तुम आज संध्या के आयोजन में कन्याओं को एक के स्थान पर चार-चार स्वर्ण मुद्राएं वितरित करो।"

प्रसन्नता से मदयन्ती का मुखमण्डल वैसे ही दीप्तिमान् हो उठा जैसे स्नेह का दान पाकर दीपक का प्रकाश द्विगुणित हो जाता है। उसके नेत्रों में भी प्रसन्नता नाचने लगी और उसने कनखियों से राजा को देखते हुए कहा—"आर्यपुत्र, मेरी एक और छोटी-सी इच्छा है, आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।"

"अवश्य, महाराज्ञी! अवश्य कहो।"

"महाराज आज हमारे देश में महामुनि गौतम के आश्रम की बहुत ख्याति है। सुना है, वहाँ आज जितने ब्रह्मचारी विद्याध्यायन करते हैं, उतने ब्रह्मचारी कभी किसी आश्रम में एक साथ नहीं रहे। आर्यपुत्र, मैंने यह भी सुना है कि वहां उत्तंक मुनि जैसे परम तेजस्वी बाल-ब्रह्मचारी साधक भी हैं। अतः मैं कुछ दिवस महातपस्विनी अहिल्या जी के सहवास में व्यतीत कर उस आश्रम की तपोभूमि के पावन संस्कार अपने हृदय में भर लाना चाहती हूँ। पर, आप यह कदापि नहीं समझें कि मैं आपकी आज्ञानुसार और राज की मर्यादा के अनुकूल जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो गई हूँ। निश्चय ही, आप

मेरी सेवा और कर्तव्य-परायणता में कोई त्रुटि न पायेंगे।"

कुछ समय तक मौन रहने के पश्चात् राजा सौदास बोले—"देवि, आज जब मैं मुनिश्रेष्ठ गौतम जी को साथ लेकर गुरु वशिष्ठ जी से भेंट करने गया था, तो उन दो महामुनियों का मिलन देखकर में गद्गद् हुए बिना न रह सका।"

"सचमुच वह भेंट वैसी ही रही होगी, जैसी भरद्वाज और भरत की।" शीघ्रता से रानी ने कहा।

"ऐसी समझो जैसी निषादराज और भरत की। उस भेंट में आत्मविभोरता अधिक थी। हाँ, तब गौतम जी के निमंत्रण पर वशिष्ठ जी ने उनके यहां जाना स्वीकार कर लिया है। लगभग डेढ़ माह पश्चात् उनके यहां नये स्नातक आयेंगे और कुछ पुराने विद्या में अपना स्नान पूर्ण कर अपने-अपने स्थानों को लौट जायेंगे। यह उनके आश्रम की हीरक जयन्ती का स्वर्ण अवसर होगा। इसी विशिष्ट समावर्तन समारोह में वशिष्ठ जी ने कृपापूर्वक भाषण करने की अनुमति दे दी है। उन्हीं के साथ मैं तुम्हारे वहां जाने की व्यवस्था कर दूँगा। कहो, ठीक रहेगा यह प्रबंध ?"

मदयन्ती की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह उस क्षण आह्लाद भरी कुछ भी बोल न सकी, जैसे जल से परिपूर्ण गगरी छलकती नहीं। राजा ने ही फिर कहा—"अब तुम संध्या के राजोत्सव के लिए तैयारी करो और अहिल्या जी को भी अपने मनोरथ से सूचित करा दो।"

संध्या जब एक प्रहर ही शेष रह गई, तो राजमहिषी के पवित्र स्नान की तैयारी में नाना प्रकार के सुगंधित उबटन, तेल और गुलाब-जल व सुवासित दुग्ध जुटाये जाने लगे। समीप के ही एक और कक्ष में सुन्दर परिधानों में अप्सरा-सी प्रतीत होने वाली परिचारिकाएँ अलंकार-मंजूषा सँजो-सँजो कर रखने लगीं। एक अत्यन्त विश्वास-प्राप्त परिचारिका द्वार को लम्बाई वाले स्वच्छ दर्पण के पास ही वह रत्नजटित पिटारी, जिसमें मणि-मय दिव्य कुण्डल रखे थे, लिए रानी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। कोई-कोई सेविका राजमहिषी के कक्ष के गवाक्षों में से झाँक-झाँककर उस विशाल सभा मंच की ओर देख आती थी, जहाँ प्रजा के नर-नारी और आमंत्रित अतिथि अपने-अपने निश्चित स्थानों पर शान्तिपूर्वक बैठे हुए अपने प्रजा-पालक सम्राट् और साम्राज्ञी के दुर्लभ दर्शनों की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। वे आतुरता से बार-बार रानी के कान में उस सभास्थल का रत्ती-रत्ती वर्णन कर उनके आनन्द को बढ़ा रही थीं। रानी का शृंगार करने वाली सेविकाओं की अंगुलियों की गति उनके मुख से सभा-स्थल का वर्णन सुनकर बढ़ जाती थी। राजा सौदास जब सभा-मंच की ओर चले तो शंख ध्वनि से और मंगल-वाद्यों से सारा आकाश शब्दायमान हो गया। तब समस्त अलंकार धारण कर राजमहिषी ने भी तुरन्त उस विशाल दर्पण के सम्मुख स्वयं अपने हाथों से वे मणिमय दिव्य कुण्डल पहने जिनसे स्वर्ण नूपुर बरसे पड़ते थे। पुष्पों, लाजों और गुलाब-जल की संयुक्त वर्षा से सिंचित लाल मखमल के

पाँवड़ों पर शनैः-शनैः पैर बढ़ाती हुई रानी मदयन्ती उसी प्रकार आगे बढ़ चली जैसे सुन्दर वनश्री से सुशोभित विशाल मानसरोवर के स्वच्छ जल पर कोई शुभ्र पक्ष वाली राज-मराली दूसरे तट पर प्रतीक्षा करने वाले अपने उज्ज्वल पक्षधारी राजहंस की ओर मंथर गति से तैर कर जा रही हो ।



समावर्तन समारोह

महामुनि गौतम के एक और पुत्र थे, महान् आत्मा चिरकारी। इन्द्र ने जब प्रमादवश हो उनकी अनिंद्य सुन्दरी माता अहिल्या को पथभ्रष्ट करने की कुचेष्टा की थी तो महर्षि गौतम ने पहले अपने परम भक्त पुत्र चिरकारी को ही यह आज्ञा दी कि—"हे वत्स ! तुम पितृ-वत्सल हो, अतः इस समय अपनी पथभ्रष्टा माता का वध कर मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न करो।"

चिरकारी समझते थे, कि क्रोधी मनुष्य को अकार्य और अवाच्य का कुछ विवेक नहीं रहता। इस दृष्टि से उन्होंने पिता की आज्ञा पर गहन विचार आरम्भ कर दिया। वे सभी कार्यों पर

बहुत काल तक विचार करने के पश्चात् ही उन्हें करते थे। इसी गुण ने उन्हें 'चिरकारी' नाम दिया था। उन्हें स्मरण हुआ कि भृगुनाथ परशुराम ने भी माता का वध किया था, किन्तु अपने सर्वसमर्थ पिता से उन्होंने तुरन्त माता को पुनः प्राणदान देने का वर मांग लिया था। माता का स्थान पिता से महान् है। पुत्र अपढ़ हो अथवा विद्वान्, समर्थ हो अथवा असमर्थ, हृष्ट-पुष्ट हो अथवा दुर्बल, माता ही सदैव उसकी रक्षा में तत्पर रहती है। वही धात्री, जननी, वीरसू, अम्बा और शुश्रू है। उसका गौरव पिता से भी बढ़कर है। एक तो नारी वैसे ही अवध्य है, फिर यह तो मेरी पूजनीया माता है। अविवेकी पशु भी नारी और माता को अवध्य मानते हैं। मैं धर्मों का ज्ञाता माना जाता हूँ। अतः पिता की आज्ञा मानकर मैं मां का वध कैसे करूं? चिरकारी ने अपने स्वभाव के अनुसार सोचते-सोचते विलम्ब कर दिया। सचमुच स्वभाव का अतिक्रमण असम्भव होता है। तभी गौतम मुनि स्वयं पश्चाताप से संतप्त हुए आश्रम में लौट आए और सीधे चिरकारी को खोजते हुए उसके पास जाकर अवसाद भरी वाणी में बोले—"वत्स! तुम्हारी माता मेरी पतिव्रता भार्या थी। मैंने ईर्ष्यावश चंचल चित्त के चक्कर में फँसकर ही उसकी हत्या करा डाली। वह तो भार्या होने के कारण मुझ से भरण-पोषण पाने की अधिकारिणी थी। वत्स, तू तो उदार बुद्धि और चिरकारिक है, तू ने मेरी आज्ञा मानकर उसे मार डालने में शीघ्रता क्यों की?"

तपस्वी पिता का करुण विलाप शांत करते हुए चिरकारी

ने कहा—"पिता जी, क्षमा कीजिये। मैं तो अभी तक आपकी आज्ञा पर विचार ही कर रहा था। मैंने अपनी साध्वी सद्-गुणी मां का वध नहीं किया है। महाभाग, जैसे अल्पायु में ही अपने वत्स को छोड़कर स्वर्ग सिधारने वाली गौ का पुत्र अनाथ हो जाता है, वैसे ही माता अहिल्या के अभाव में मेरा जीवन भी असम्भव हो जाता।...."

"बेटा! तू धन्य है। तेरा कल्याण हो! तूने मुझे स्त्री-हत्या के घोर पाप से बचा लिया, तेरा चिरकारिक नाम सफल है। तू हरेक कार्य को ऐसे ही सोच समझकर करता रहा तो तुझे कभी क्लेश न होगा।" उदार बुद्धि चिरकारी उसी दिन से गौतम की विशेष कृपा के भागी हो गए थे। अतः समावर्तन के समय आयोजित विविध समारोहों की जब तैयारी होने लगी, तो 'यमराज-नचिकेता' के अभिनय के लिए पात्रों का चुनाव करते हुए महामुनि ने चिरकारी और उत्तंक के नाम लिए। यमराज ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् ही नचिकेता को अमरत्व का उपदेश किया था, अतः गौतम ने व्यंग्य करते हुए दीर्घसूत्री चिरकारी को ही यमराज की भूमिका सौंप दी। उत्तंक नचिकेता के समान ही जिज्ञासु, विनय-सम्पन्न, और उत्साही थे। वे उसी भूमिका का अभ्यास करने लगे।

उस समय यद्यपि महर्षि गौतम का तपोवन देवताओं के गुरु 'बृहस्पति-भवन' जैसी शोभा पा रहा था और वे स्वयं बृहस्पति-सदृश भव्य, गरिमामय, तपालोक से तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उनके समान ही तेजस्वी, प्रभावशाली, विनयशील एवं ब्रह्मवेत्ता मुनि वशिष्ठ जी के आगमन पर शंखध्वनि, घण्टाध्वनि और

पुष्प वर्षा करते हुए गौतम और उनके उत्तंक जैसे गुरुसेवी शिष्य उन्हें आश्रम में ले आये। उनके साथ आने वाली रानी मदयन्ती का उनके परिकर सहित देवि अहिल्या ने भव्य स्वागत किया। प्रयाग से भरद्वाज के शिष्य भारद्वाज भी पधारे थे। समस्त तपोवन का वातावरण उल्लास से भरा था। कहीं वेदोच्चारण हो रहा था। कहीं यज्ञ की अग्नियों से देवताओं को सन्तुष्ट करने वाला सुगन्धित धूम आकाश में उड़ रहा था। कहीं शुक-सारिकाएं तक भी अतिथियों से योग-क्षेम के प्रश्न पूछती हुई चतुर राज-सेविकाएं सी प्रतीत हो रही थीं। मन्द-मन्द सुवासित वायु थकान हरने में कोई उन्माद नहीं कर रहा था। अतिथियों की सेवा में गौतम मुनि ने उन भरद्वाज का स्मरण करा दिया, जिन्होंने अपने आश्रम में ही भरत और उनकी अमित चतुरंगिणी सेना को अष्ट-सिद्धियों द्वारा अनुपम राजसुख उपलब्ध करा दिए थे। महामुनि वशिष्ठ जी तो मानो रामराज्य का ही स्वप्न देखने लगे, जब सब प्रजावासी शुद्धचित्त से धर्म का आचरण करते हुए नाना-विध सुख भोगते थे। रानी मदयन्ती भी वहां की उत्तम व्यवस्था देखकर अपने राजप्रासादों की व्यवस्था की हीनता का अनुमान लगाने लगी। 'तपोधन ऋषि अपने तप के प्रभाव से क्या प्राप्त नहीं कर सकते!' वह बारंबार यही सोचने लगती। अपने कौतूहल को शांत करने के लिए उसने ऋषिपत्नी अहिल्या जी से प्रश्न किया—"परम तपस्विनी अहिल्या जी, क्या यहाँ सदैव ऐसा ही मंगल छाया रहता है, अथवा समावर्तन समारोह के कारण कुछ विशेषता है?"

"जहाँ निरंतर धर्म का आचरण होता है, वहां समस्त सुख इसी प्रकार सदैव बने रहते हैं, जैसे किसी उदार सरोवर में सब दिशाओं से जल आकर स्थिर हो जाता है।"

"सचमुच, धर्मशील व्यक्ति के लिए महि सुखों से परिपूर्ण है। पर, अहिल्या जो, क्या यह सब आपके महात्मा पति देव का ही प्रताप नहीं है ?"

"कल्याणी ! जहां निष्काम भाव से तप, साधना, भक्ति का अनुष्ठान होता है, वहां का तो कण-कण पवित्र हो जाता है। हमारे आश्रम में बड़े-बड़े तपस्वी निर्बाध रूप से साधना रत रहते हैं। इसका बड़ा श्रेय तो मिथिला के राजाओं को है। वे इस बात का यत्नपूर्वक ध्यान रखते रहे हैं कि चारों आश्रमों की व्यवस्था का चक्र जहां से गति प्राप्त करता है, जहां राष्ट्र की समृद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति एवं अस्त्र-शस्त्र शिक्षा में तरुणों को पारंगत किया जाता है, जहां मात्र नश्वर देह में आसक्ति रखने वालों के मोह को छुड़ाकर उन्हें आत्म-विकास की विराट् भावना का दर्शन कराया जाता है, वहां की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे, वहां साधक और सिद्ध पुरुषों को किसी प्रकार का क्लेश न हो।"

"मैं इस बात से बहुत प्रसन्न हुई हूँ, अहिल्या जो ! आपके सहवास से, मेरे ज्ञान-नेत्र भी मानों खुलते जा रहे हैं। धन्य है, आपकी निरभिमानिता कि आप किसी उत्तम बात का श्रेय स्वयं नहीं लेतीं। और जहां आपके महान् आत्मा पति का उल्लेख आता है, वहां भी आप विनयावनत हो उनकी महानता को छुपा लेती हैं। यह उनकी कैसी महान उदारता

है कि उन्होंने अपने प्रिय शिष्य उत्तंक का मान-यश अपने से भी अधिक उजागर किया है।"

"देवि मदयन्ती ! तुम ठीक ही कहती हो, उत्तंक हमारे यहां के शिष्यों में वास्तव में आदर्श हैं। गत साठ वर्षों में समय-समय पर उनके धैर्य, सत्य, शौर्य, दम, शम और तप की कठोर परीक्षाएं हुई हैं। पर वे सदा सर्प-मणि की भांति उज्ज्वल, धवल, निष्कलंक सिद्ध हुए। गुरुभक्ति में उनकी कोई समता नहीं। उनका शरीर में मोह नहीं रह गया है। जीवन के सबसे प्रबल शत्रु काम को भी उन्होंने मानो भीष्म के समान ही परास्त किया है। तुम्हें एक गोपनीय रहस्य सुनाती हूं, क्योंकि राज-महिषी, तुमने मेरा विश्वास प्राप्त कर लिया है।

"एक समय मेरे श्रेष्ठ तपोनिष्ठ पति प्रवास में गए थे। जाते समय वे उत्तंक की गुरुतर परीक्षा का भार मुझे सौंप गए। उनकी आज्ञा ही ऐसी थी कि मैं स्वयं संकोच से गड़ गई। पर क्या करती, पति की आज्ञा थी और परिणाम में भी मुझे कोई दोष दृष्टिगत नहीं हुआ। अतः मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। यह तो आपको ज्ञात है ही कि उनके प्रवास काल में उनके समस्त कार्यों का दायित्व मुनि उत्तंक पर ही रहता है। पतिदेव के प्रस्थान के दो दिवस पश्चात् मैंने दिव्य पुष्पों से शृंगार किया। अपने शरीर में स्थान-स्थान पर मैंने देवताओं के मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाली सुगन्धित केशर और अंग-राग का लेप किया। नयनों में मसी लगाकर उन्हें अत्यन्त सुन्दर बना लिया। केश-विन्यास मेरा उस समय अप्सराओं को लजाने वाला था। कुटिया में सर्वत्र रात-रानी की मादक

गन्ध बिखर रही थी। इतने सब प्रसाधन एवं उपक्रम जुटाने के पश्चात् मैंने एकान्त पाकर उत्तंक को अपने पास बुला भेजा।"

"फिर क्या हुआ ?" विस्मय-विस्फारित नेत्रों से मदयन्ती ने अहिल्या को देखा।

"उत्तंक ने आकर मेरे चरणों में मस्तक झुका दिया। उसकी दृष्टि ऊपर न उठी। मैंने कभी उसका स्पर्श नहीं किया था। पर उस क्षण जटाओं से शुष्क उसके शीश पर मैंने आशीर्वाद का उपक्रम करते हुए हाथ फेरा। उत्तंक इसी प्रकार चकित होकर कुछ पीछे हट गये जैसे अकस्मात काला फणिधर दृष्टिगत हुआ हो। पर वे मौन रहे। मैंने कहा—'उत्तंक, आश्रम में सब प्रकार से शांति तो है ?'

"उसने कहा—'जी, आपके आशीर्वाद से और गुरु-कृपा से सब कार्य यथावत् सम्पन्न हो रहे हैं'।"

"तुम्हें अपना दायित्व भी ज्ञात है न ?"

"जब तक गुरु-कृपा है, तब तक उसमें कोई त्रुटि आनी संभव कैसे हो सकती है !"

"मैं जानती हूँ, तुम गुरु की अनुपस्थिति में उनके सभी कार्य पूर्ण करते हो। मैंने आज तुम्हें गुरु का एक गुरुतर दायित्व पूरा करने के लिए ही इस समय स्मरण किया है।"

"आपकी आज्ञा मेरे लिए वैसी ही होगी, जैसी कि ईश्वर तुल्य स्वयं गुरुजी की। आप मुझे अपना अभीष्ट बताने में विलम्ब न करें।"

"उत्तंक, मैं ऋतुमती हूँ। गुरु के प्रवासकाल में उनके सभी कार्य पूरा करने का तुम्हारा व्रत है। अतः मेरा ऋतुकाल

सफल कर यश के भागी बनो, उत्तंक। ऐसा सुअवसर बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है—पर देवि, मदयन्ती! उत्तंक मेरी अभिप्राय-युक्त बात सुनकर वैसे ही अचल रहे जैसे विध्वंसकारी प्रचण्ड आंधी में कोई पर्वत ही रह सकता है। उनके मुख पर भय से स्वेदकण भी न आये। गंभीर अविचलित स्वर में उन्होंने कहा—"आप मेरी माता हैं। आपकी आज्ञा होगी तो मैं इसी क्षण प्राणों को ऐसे ही त्याग दूंगा जैसे सर्प अपनी कैंचुली उतार फेंकता है, परन्तु आपकी इस प्रमाद भरी आज्ञा को मैं सौ जन्मों में भी पूरा न कर सकूंगा। क्षमा करें, मेरे परम हितैषी गुरु जी ने मुझ से एक अवसर पर कहा था—'वत्स! गुरु ही यदि प्रमादवश कभी अकर्तव्य-कर्तव्य का विचार छोड़, कुमार्गगामी हो जाय तो उसे भी दण्ड का भागी बनना पड़ता है। अतः माता जी, मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप भी मेरे कल्याण के लिए मुझे कोई सुन्दर आशीर्वाद दीजिये।' देवि मदयन्ती, उत्तंक को मैंने शाप का भी भय दिया और नाना प्रकार से संलाप द्वारा लुभाने की चेष्टा की, परन्तु, उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ, जैसे श्याम बादल का निर्मल आकाश पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह वैसा ही अविचल रहा जैसे अर्जुन उर्वशी के सम्मुख रहा। पतिदेव ने उस समय प्रवास से लौटकर उत्तंक को ब्रह्मविद्या का आशीर्वाद देकर मानो स्वयं को ही कृतार्थ किया।..."

मदयन्ती रानी ने अभी तक उत्तंक के दर्शन नहीं किए थे। उसके मन में ऐसे महान जितेन्द्रिय मुनिकुमार का सान्निध्य प्राप्त करने का संकल्प उठा, कि तभी एक ब्रह्मचारी

ने प्रवेश किया और अहिल्या जी के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रणाम किया—"गुरुदेव की आज्ञा है, समारोह अब आरंभ ही हुआ चाहता है। कृपा कर अयोध्या की पुण्यशीला साम्राज्ञी सहित आप आसन ग्रहण करें। यह संवाद मदयन्ती के लिए बड़ा सुखद प्रतीत हुआ। वह अहिल्या जी के साथ-साथ उस विशाल खुले मंच की ओर चल दीं, जहाँ ऊँचे सिंहासनों की अग्रपक्ति में उनके बैठने की व्यवस्था की गई थी। खुले मंच के सामने वाली भूमि क्रमशः ऊँची होती चली गई थी। उसी पर कुशा के आसन बिछाए सहस्रों पीतवसनधारी ब्रह्मचारी पंक्तिबद्ध हो शांतिपूर्वक बैठे हुए थे। उनके बलिष्ठ हृष्ट-पुष्ट शरीरों पर पीत यज्ञोपवीत शोभा पा रहे थे। सबसे आगे वे पचास ब्रह्मचारी बैठे थे, जो आज समावर्तन के पश्चात् गृहस्थ में लौट जाने वाले थे। उनके सुदृढ़ कन्धों में पीत उत्तरीय पड़े हुए थे। हल्की-हल्की धूप सघन वृक्ष कुंजों से छन-छनकर उन पर आ रही थी, उसके कारण वहाँ का सारा वातावरण पीत प्रतिबिम्ब से ऐसा सुशोभित हुआ मानो वसन्त का आरंभ ही हो। उनकी प्रसन्नता की आज कोई सीमा न थी, क्योंकि वे महामुनियों में श्रेष्ठ, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ वशिष्ठ जी के आशीर्वाद के साथ उस पुनीत आम्रतरु की चिकनी पत्तियां ग्रहण करने वाले थे जो श्री राम ने इस आश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए महामुनि विश्वामित्र की आज्ञा से स्वयं अपने हाथों रोपा था।

नियत समय पर वैदिक मंत्रोच्चार होने लगा। उसी सस्वर वेद-पाठ के मध्य महामुनि गौतम की अगवानी स्वीकार

करते हुए ज्ञानियों में श्रेष्ठ मुनि वशिष्ठ जी वहां पधारे। सबने खड़े होकर उनका अभिवादन किया। पावन मृगचर्म से आवेष्टित दिव्य आसनों पर जब वे दोनों महामुनि विराजे, उस समय समस्त वायुमण्डल में ब्रह्मचारियों का समवेत स्वर गूँज उठा—हरि ऊँ····

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्तये, सहस्त्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्त्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्त्र कोटी युगधारणे नमः॥

गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुगुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति भेद विभागिने।
व्योमवत्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥

मंत्रोच्चार के पश्चात् ही वायुमण्डल की स्तब्धता भंग करते हुए मंच का आवरण हटने पर ब्रह्मचारी कुमारहारित वाजश्रवस की भूमिका में उपस्थित हो गए। वे नचिकेता के पिता और वाजश्रवा के पुत्र थे। मंच पर उनके पार्श्व में यज्ञ-वेदिका बनी हुई थी, जिसमें से सुगन्धित धूम उड़ रहा था। उनके समीप ही उनके दो सेवक खड़े थे और तेजस्वी पुत्र नचि-केता के रूप में स्वयं मुनि उत्तंक खड़े सब दर्शकों को आकर्षित कर रहे थे। उनकी मुद्रा पर आश्चर्य और उत्सुकता का भाव था। उसी क्षण वाजश्रवस ने अनुष्ठान में सफलता प्राप्त करने वाले यज्ञकर्ता की प्रसन्नता से कहा—"वत्स नचिकेता! हमारा कई मास से चला आ रहा विश्वजित यज्ञ आज सम्पन्न हो गया। महामात्य! हमारी गौशाला से समस्त गौओं को यहाँ उपस्थित करो। उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों को दक्षिणा में दान दे दूंगा।

मैं आशा करता हूँ, उनके सुन्दर विषाण स्वर्ण से अलंकृत किये जा चुके होंगे।"

अमात्य—"हाँ, श्रीमान् ! आपके कथन की ही प्रतीक्षा थी। गौएं यज्ञशाला तक पहुँच चुकी हैं।"

तब यज्ञशाला के समीप तक एक-एक गौ आने लगी और विश्वजित् यज्ञ के कर्ता वाजश्रवस उन्हें श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भेंट करने लगे। नचिकेता यह सब आश्चर्यवत् देखते रहे। उनमें कुछ गौएं ऐसी भी थीं जो दुग्ध से हीन हो चुकी थीं, जिनकी प्रजनन शक्ति का ह्रास हो चुका था और वे इस योग्य भी नहीं रही थीं कि अपना चारा स्वयं खा सकें। अतः नचिकेता ने अपने पिता से विनयपूर्वक कहा—"हे तात ! ऐसी गौएं दान देने वाला दाता तो आनन्द से शून्य लोकों को ही प्राप्त होता है। फिर आपने अपने ऋत्विकों को ऐसी गौएं क्यों दान में दी हैं ?"

विश्वजित यज्ञ के अभिमान से फूले हुए वाजश्रवस को पुत्र का यह कथन बड़ा अप्रिय और अपमानजनक प्रतीत हुआ। रुष्ट होकर वे बोले—"तू मेरे दान की निन्दा कर रहा है। नीच, मैं तुझे भी अभी मृत्यु को दे दूँगा।"

नचिकेता की भूमिका करने वाले उत्तंक मुनि की मुद्रा पर तब अनुताप का भाव उदय हुआ और वे मंच के एक किनारे पर आ एक बारगी सोचने लगे—"मैंने कभी अधम वृत्ति से जीवन यापन नहीं किया। मैं सदैव मुक्त अथवा मध्यम वृत्ति से चलने वाले पुत्रों और शिष्यों में अग्रगामी रहा हूँ, फिर पिता जी मुझे यमराज को क्यों सौंप देना चाहते हैं। पिता की बात पर सहसा

विश्वास न कर नचिकेता ने प्रश्न किया, "महात्मन् ! कुल के पूर्व पुरुषों का आचरण देखकर ही मनुष्य को अपना व्यवहार मार्ग निश्चित करना चाहिए। उनका कथन मिथ्या नहीं होता था। संसार में मनुष्य खेती की भांति उत्पन्न होते हैं और उसी प्रकार काल को प्राप्त होते हैं। अतः आप असत्याचरण न करें और मुझे यमराज के पास भेजकर अपना कथन सत्य करें।"

वाजश्रवस—"अच्छा वत्स ! तू ठीक कहता है। मैं तुझे यमराज के पास भेजता हूँ। ईश्वर तेरा कल्याण करे।"

यहाँ मंच पर फिर आवरण आगया। पहला दृश्य समाप्त हुआ। दूसरे दृश्य में मंच पर यमलोक का दृश्य उपस्थित किया गया था। एक ओर दूरी का भान कराते हुए नरक की झाँकी दिखाई गई थी, जहाँ पापी नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहे थे। दूसरी ओर मंच के दाहिने किनारे पर स्वर्ग का दृश्य था, जहां पुण्यात्मा अनेक प्रकार के सुख भोग रहे थे। अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही थीं। इन दो दृश्यों के मध्य जिज्ञासु नचिकेता थका हुआ बैठा था। यम की पत्नियाँ उसकी सेवा में तत्पर थीं। पर वह मौन था। एक सेविका ने उससे कहा—"ब्राह्मण-कुमार ! हमारे लोक के स्वामी प्रवास पर गए हैं। तीन दिवस पश्चात् वे लौटेंगे। तब तक आप भोजन ग्रहण कर सुख-पूर्वक रहो।"

"नहीं देवि ! मैं जिस प्रयोजन से आया हूँ, उसे पूर्ण किए बिना भोजन ग्रहण न करूँगा।"

"ब्राह्मण-कुमार ! आपका क्या प्रयोजन है ?"

"वह यमराज के सामर्थ्य से बाहर नहीं है। वे ही आकर

उसे पूरा करेंगे।"

मंच पर आवरण आता है और चला जाता है। अब पार्श्व में केवल स्वर्ग का ही दृश्य उपस्थित है। ब्राह्मण-कुमार नचिकेता अकेले विचारमग्न बैठे हैं। सूर्य-पुत्र यमराज की भूमिका में भव्यमूर्ति चिरकारी हाथ में जल लेकर आते हैं। नचिकेता से उन्होंने कहा, "ब्राह्मण-कुमार! मैं आपको पाद्य देने के लिए ही यह जल लाया हूँ। कृपा कर इसे स्वीकार करें।"

यमराज नचिकेता के पाद-प्रक्षालन के पश्चात् पूछता है—"आपने भोजन क्यों नहीं किया ब्रह्मन्। जिस घर में आकर अतिथि भूखा रहता है, उसके तो समस्त यज्ञफल, पशु, पुत्र आदि सभी कुछ नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण-कुमार! आप मेरे पूज्य अतिथि हैं। मेरी पूजा स्वीकार कीजिये।"

यमराज तब विधिवत् नचिकेता की पूजा करते हैं। तदनन्तर उन्होंने कहा, "पूज्यवर! आप तीन रात्रि मेरे घर में बिना भोजन किये रहे हैं। अतः आप मुझ से एक रात्रि का एक के अनुसार तीन वर मांगने के अधिकारी हैं।"

नचिकेता प्रसन्न हो अपने स्थान से उठ खड़े होते हैं। विनीत स्वर में वे कहने लगे—"विवस्वान-पुत्र यम! प्रथम वर तो मैं आपसे यह मांगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति अपना क्रोध त्याग कर शांत संकल्प हो जाएं। और जब मैं यहां से लौटकर जाऊँ तो वह मुझे पहचान कर ही सम्भाषण करें।"

यम—"नचिकेता! तेरी पितृ-भक्ति से मैं सन्तुष्ट हूं। यद्यपि यहाँ से लौट कर जाने वाले को पूर्व रूप में ही कोई नहीं

पहचानता, पर वाजश्रवस तुझे पहचान कर पूर्ववत् अपना लेंगे।

नचिकेता ने हाथ जोड़कर दूसरा वर मांगा—"हे यमराज, मुझे उस अग्नि का उपदेश कीजिये जिसके द्वारा मनुष्य शोकातीत होकर, मानसिक दुःखों से छुटकारा पाकर स्वर्गलोक में आनन्द भोगता है। यही मेरा दूसरा वर है।"

बुद्धि को समाहित कर नचिकेता ने यमराज से बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि-रूपी गुहा में स्थित, स्वर्गलोक रूपी फल की प्राप्ति का साधन तथा विराट् रूप से जिसमें यह जग-प्रतिष्ठित है, उस अग्नि की महिमा का श्रवण किया। नचिकेता को बुद्धि-परीक्षा से यों किंचित् सन्तुष्ट होकर यम ने कहा—"मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, ब्राह्मण-कुमार ! तीन वरों के अतिरिक्त मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ। यह अग्नि तेरे नाम से 'त्रिणाचिकेत' जानी जायेगी और इसका चयन करने वाला पुरुष स्वर्ग-प्राप्ति से भी बढ़कर ब्रह्म-लोक को प्राप्त कर लेगा।"

"समझा, गुरुदेव ! त्रिणाचिकेत से आपका तात्पर्य माता-पिता-आचार्य से शिक्षित होने से है, अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषों से शिक्षित होने से है। अथवा यज्ञ, अध्ययन और दान का निर्वाह करने वाला भी मृत्यु को तर जायेगा अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणों से शुद्धि प्राप्त कर मनुष्य शोक से तर जायेगा।

(मंच पर तब इन तीन-तीन अग्नियों के प्रतीक आते हैं, और अदृश्य हो जाते हैं।)

"बहुत सुन्दर, नचिकेता ! स्वर्ग प्राप्त करने वाली अग्नि को तूने जान लिया है । अब अपना तीसरा वर मांग । अन्यथा मैं तेरा ऋणी रह जाऊँगा ।"

नचिकेता ने अब अपना विशेष प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में बताते हुए कहा—"यमराज ! मृत्यु को प्राप्त हुए मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ लोगों को संशय है—'वह नहीं रहता', कुछ प्राणियों का कथन है—'रहता है ।' अतः आप इस रहस्य को मुझ पर प्रकट करें कि वस्तुस्थिति क्या है । यही मेरा तीसरा वर है ।"

यमराज—(किंचित घबरा कर) यह गूढ़ विषय है । इसके सम्बन्ध में देवताओं को भी संदेह है । अतः तू यह न पूछ । और कोई वर मांग ले ।

नचिकेता—हे मृत्यु ! जो जानने में सुगम नहीं है, वही मेरा अभीष्ट है । अतः आप इसी रहस्य का उपदेश कीजिये । मेरी पात्रता पर संदेह न करें ।

यम—(मंच पर सहसा उपस्थित हुए कुछ कुमारों की ओर संकेत करके) वत्स ! तू सौ-सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र, पौत्र मुझसे ले ले, पर यह प्रश्न न पूछ, कोई भी अन्य वर मांग ले ।

नचिकेता—हे यमराज, सारा सत्याचरण आपसे ही नियंत्रित है, अतः तीसरे वर के सम्बन्ध में मुझे पथ-भ्रष्ट न करें ।

(मंच से वे कुमार अदृश्य हो जाते हैं और कुछ हाथी, घोड़े, गौ वहाँ आ जाते हैं । यमराज उन्हीं को लक्ष्य करके कहते हैं)—ब्राह्मण-कुमार, मैं तुम्हें अनेक बलवान् हाथी, और वायु

से भी द्रुतगामी अश्व और स्वस्थ वत्सोंवाली सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ। तू तीसरा वर और कोई ही मांग ले।

नचिकेता उसी दृढ़ स्वर से कहता है—सूर्य-पुत्र ! आप जानते हैं, आपके पिता ने जो अपने उदय और अस्त से काल का निर्णय किया है, उस महाकाल में ये सभी पदार्थ नष्ट हो जाने वाले हैं। (मंच पर सूर्य का प्रकाश और अंधकार बताने के लिये एक विशाल अग्नि पिंड मंच के आकाश में एक ओर से दूसरी ओर जाता दिखाई देता है। अश्व, हाथी, गौ अदृश्य हो जाते हैं।)

यम ने फिर मंच पर उपस्थित अनेक सुन्दर रमणियों की ओर संकेत करते हुए कहा—ब्राह्मण-कुमार ! तू इन्हें अंगीकार कर। पृथ्वी पर तेरा चिरस्थायी राज्य हो। तू जितने वर्ष चाहे उतने ही वर्षों तक जिए और तू मुझ सत्यसंकल्प देवता के वरदान से दैवी एवं मानुषी सभी कामनाओं को इच्छापूर्वक भोगने वाला हो। पर अपने तीसरे वर के लिए मुझे विवश न कर। (तभी रमणियां मंच पर नृत्य कर उठती हैं)

नचिकेता—यम देवता ! आपके सारे भोगों के सम्बन्ध में यही शंका है कि वे कल रहेंगे या नहीं। आपका नृत्य-गान आपके ही पास रहे। इन्द्रियों को जीर्ण करने वाले इन भोगों में मेरा क्या प्रयोजन ! मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता और जब तक आप का शासन रहेगा, तब तक मैं जीवित भी रहूँगा। आपके दर्शनों का फलरूप, धन भी मुझे प्राप्त हो ही जायेगा। मुझे तो आप तीसरे वर का दान दीजिये ही। मैं और कोई वर आप से नहीं मांगता।" (मंच पर फिर

दोनों ही रह जाते हैं।)

यम—वत्स ! तू परीक्षा में सफल हुआ। तुझे संसार के मूल्यवान् दिखाई देने वाले भोग नहीं लुभा सकते। मैं तुझे श्रेय का उपदेश करूँगा। जो लोग भोग-पदार्थों में लिप्त हैं, वे उस अंधे मनुष्य की तरह हैं, जो अंधे की ही लकड़ी का सहारा लेकर चलते हैं। जो इसी लोक को सब कुछ मानते हैं, जिनकी दृष्टि में और कोई लोक ही नहीं, वे ही बारंबार मुझे प्राप्त होते हैं।

नचिकेता—सूर्य-पुत्र ! मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि वे कौन हैं, जो आपको प्राप्त करते हैं, क्या यह शरीर ? क्या शरीर मरता है या आत्मा ?

यम—ब्राह्मण-कुमार ! आत्मा न तो मरता है, न मारता है। शरीर ही नष्ट होते हैं, आत्मा नहीं। वत्स, इसे जानने का एक ही उपाय है। समस्त वेदों में इसी का वर्णन है, सब साधक इसी के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। सारे तपों का भी यही फल है, वह पद है 'ॐ'। यह पद ही 'ब्रह्म' है, यही 'अक्षर' है, जो इस अक्षर को जानकर किसी पदार्थ की इच्छा करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। वत्स, जिसने अपनी इन्द्रियां शान्त कर लीं, वही इस पद को पा लेता है। यह अमरत्व देने वाला है।

नचिकेता—समझा, गुरुदेव ! बहिर्मुख इंद्रियों से मनुष्य संसार की ओर जाता है और अन्तर्मुख इंद्रियां ब्रह्म की ओर ले जाने वाली हैं।

यमराज—(मंच पर अंधेरा छा जाने पर पृष्ठ भाग में छाया रूप दिखने वाले रथ की ओर संकेत करके कहता है)—

ब्राह्मण-कुमार ! इस शरीर को रथ मानो। आत्मा ही इसमें रथी और बुद्धि सारथी है। और लगाम है मन, हमारा मन ! मन ही मनुष्य को बांधता है और मन ही मुक्ति को दिलाने वाला है। विषयों में आसक्त मन ही बंधन का कारण है और विषयों से दूर रहने वाला मन मुक्ति-प्रदाता है।

धीरे-धीरे मंच पर प्रकाश होने के साथ-साथ 'छाया-रथ' अदृश्य हो जाता है और नचिकेता यमराज के चरणों में नत होकर कहता है—"मैं कृतकृत्य हुआ। आपकी कृपा अमरत्व देने वाली है।"

यमराज उसे आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—ब्राह्मण-कुमार ! तू ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गया। तू काम और अविद्या से रहित हो गया।

शनैः-शनैः मंच पर सब कुछ अदृश्य हो गया और पार्श्व में फैलते हुए सूर्य-प्रकाश के मध्य केवल समाधिस्थ नचिकेता सिद्धासन में बैठे दृष्टिगत हुए। मन्द मधुर ध्वनि में मन्त्र गूँजने लगा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

मंत्र की समाप्ति के साथ-साथ मंच पर सूर्य का प्रकाश प्रचंड होता गया और समाप्ति-सूचक आवरण आ रहा। उत्तंक और चिरकारी पर सुन्दर अभिनय के लिए "साधुवाद" की वर्षा होने लगी। दर्शकों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उत्तंक

नहीं, साक्षात् नचिकेता ही स्वयं मंच पर आ गये हों। इसके पश्चात् ही गौतम जी ने मंच पर आकर महामुनि वशिष्ठ जी को भी वहीं आमन्त्रित किया और अपनी दाहिनी ओर उच्च सिंहासन पर आसीन होने का गौरव प्रदान किया। गौतम जी की प्रार्थना पर उन्होंने विशिष्ट समावर्तन समारोह के उपलक्ष्य में अपना भाषण आरंभ करने से पूर्व कहा—"मुझे आज नाटिका के निर्देशक के रूप में मुनि उत्तंक ने बहुत प्रभावित किया है। उनके तप की प्रशंसा मैंने अनेक विश्वस्त जनों से सुनी है। इस समय तो उनके निर्देशन और अभिनय की श्रेष्ठता के लिए मैं अपने हस्ताक्षरों से युक्त "योग-वशिष्ठ" की हस्तलिखित प्रति भेंट करता हूँ। बेटा उत्तंक, इसे ग्रहण करो।"

मंच के निकट आकर भव्य मूर्ति उत्तंक ने नत मस्तक हो दोनों मुनियों को दंडवत् प्रणाम किया और गौतम जी का संकेत पाकर वह अनुपम भेंट स्वीकार की। तत्पश्चात् महामुनि वशिष्ठ जी ने स्नातकों को सम्बोधित करके कहा—"प्रिय ब्रह्मचारियो ! आज बड़े हर्ष का विषय है कि आप में से कुछ सत्यान्वेषी इस विख्यात आश्रम से आत्मविकास की आह्लाद-कारी शिक्षा प्राप्त कर गृहस्थ में प्रवेश करेंगे। अभी-अभी आपने यमराज-नचिकेता की जिस भूमिका का अभिनय देखा उसमें भी ब्रह्मचर्य की महिमा स्पष्ट हो गई। इन तपोवनों में रहकर आप ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के लक्ष्य में अपने को सुस्थिर करते हैं। यहाँ से लौटकर गृहस्थ में भी आप शास्त्रानुसार अपने वैवाहिक जीवन में भी ब्रह्मचर्य-

पूर्वक साधना करते हैं। यहाँ आपके जीवन के आरंभिक काल में ऐसे सुन्दर संस्कार डाल दिए जाते हैं, कि आप सम्पूर्ण जीवन संयम-नियमपूर्वक यापन करें और सुखपूर्वक अपने परम् लक्ष्य को प्राप्त करें। भगवान् कृष्ण ने कहा है—यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। परमात्मा की प्राप्ति के इच्छुक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। आपने यहाँ रहकर तप की वृद्धि के लिए समस्त इंद्रियों को वश में रखा है। बाहर-भीतर से शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरों के निमित्त तर्पण किया है, वन से अरणियां लाकर हवन-यज्ञ किया है।

"यज्ञ की महत्ता आप जानते हैं। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं। वे प्रसन्न होकर प्रजा की उन्नति करते हैं। यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता प्रिय भोगों को प्रदान करते हैं और उनके दिये हुए भोगों में से जो देवता का अंश निकाले बिना ही उनका भोग करता है, वह तो तस्कर है। यज्ञ से बचे हुए श्रेष्ठ अन्न का भक्षण करने वाला गृहस्थ ही पुण्य का भागी होता है।

"प्रिय शिष्यो ! इस यज्ञ के भी कई प्रकार हैं। जो स्रुवा को ब्रह्म मानकर, हवन करने योग्य द्रव्य को भी ब्रह्म मानकर, अग्नि को ब्रह्म मानते हुए उसमें उसका हवन करता है, वह ब्रह्म रूप कर्म में समाधिस्थ हुआ ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। जो देवताओं के पूजन रूपी यज्ञ को करते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं और जो इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं वे विषयों को ग्रहण करते हुए भी भस्म रूप करते हैं। इसी प्रकार लोक-सेवा में द्रव्य का व्यय करना भी एक प्रकार का यज्ञ है, अहिंसा आदि से युक्त होकर बहुत से साधक नाम-

जप या शास्त्रों का अध्ययन रूप ज्ञान यज्ञ करते हैं, इससे भी भगवत्-प्राप्ति होती है। अष्टांग योग रूप यज्ञ भी एक कठिन यज्ञ है। पर ब्रह्मचारियो ! सर्वश्रेष्ठ तो स्वधर्म पालन रूप यज्ञ है। स्वधर्मे निधनं श्रेयः ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के धर्मों को आपने यहाँ पूर्ण जानकारी प्राप्त की है, हम आपको अपनी ही नगरी के समीप घटित हुआ एक सत्य दृष्टांत बताते हैं, जिससे आपकी स्वधर्म पालन में निष्ठा हो। प्राचीन समय में कौशिक नाम के एक ब्राह्मण-कुमार ने महान तप किया। वे वर्षों, भूख-प्यास को जीतकर एक वृक्ष के नीचे समाधि लगाए बैठे रहे। जिस समय उनको समाधि खुली, वे आकाश की ओर देख रहे थे। तभी ऊपर वृक्ष पर बैठी एक नन्हीं चिड़िया ने उन पर बीट कर दी। तपस्वी क्रोध के मारे आग बबूला हो गए और उस तुच्छ पक्षी को क्रोध भरी दृष्टि फेंक कर ही भस्म कर दिया। अपने को सिद्ध मानकर वे अभिमान से मधुकरी के लिए नगर की ओर चले। संयोग से उन्होंने जिस गृहस्थ के आगे खड़े होकर याचना की, वहाँ पति-व्रता गृहिणी अपने पति को भोजन करा रही थी। उसने विनम्रता से कहा—'महाराज ! प्रतीक्षा कीजिए, मैं अभी आती हूँ।'

"उन तपस्वी को द्वार पर खड़े-खड़े कुछ समय बीत गया तो वह पुनः खिन्न होकर क्रोध को प्राप्त हुए। भला वह अपने धर्म में भली प्रकार से स्थित पतिव्रता पति को खाना खिलाते-खिलाते बीच में ही कैसे उठ आती ? तो प्यारे ब्रह्मचारियो ! जब पति को भोजन कराने के उपरान्त वह पतिव्रता बाहर

आई तो उसके अन्न की उपेक्षा कर वह अभिमानी तपस्वी क्रोध और दर्प से उसे आँखें फाड़कर देखने लगे। स्त्री ने शांत भाव से कहा—'महाराज! मैं वह चिड़िया नहीं हूँ, जो आपकी आँखें देखकर जल जाऊँगी। आप कृपा कर यह भोजन स्वीकार करें। मैं पति-सेवा में रत थी, इसी कारण विलम्ब हुआ।'

"अब तो उन दम्भी तपस्वी का दर्प विगलित हो गया। वह सहम गये और पश्चात्ताप के स्वर में कहने लगे—'देवि! आप धन्य हैं। आपने बिना बताए यह चिड़िया वाली बात किस प्रकार जान ली?' पतिव्रता बोली—'महाराज! इसमें आश्चर्य क्या है! मैं अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करती हूँ। इसी कारण मैंने आपके हृदय का भाव जान लिया।'

" 'देवि! आप मेरे लिए माता तुल्य हैं'—कौशिक ब्रह्मचारी ने अपने विवेक को जगाने की चेष्टा करते हुए कहा—'आप मुझे उस स्वधर्म पालन रूप धर्म का उपदेश करें जिससे आपको यह अपूर्व शक्ति प्राप्त हुई है।'

"तब उस महिला ने तपस्वी से कहा—'आप कृपा कर मिथिलापुरी में जायें, वहाँ धर्म व्याध नामक कसाई आपको धर्म का उपदेश करेंगे।"

"कसाई" का नाम सुनकर तपस्वी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पर विवश होकर उन्हें जाना ही पड़ा। मिथिला पहुँच कर उन तपस्वी ने देखा कि वह कसाई तो दूकान पर बैठा हुआ मांस काट और बेच रहा है। यह देखकर उन्हें उसके पास जाने में भी संकोच हुआ। परन्तु, उसी समय एक और चमत्कार हुआ। उस कसाई ने उन तपस्वी-कुमार को स्वयं ही

पुकारा—'आइये ! ब्रह्मचारी जी ! आपको ही उस पतिव्रता नारी ने मेरे पास भेजा है न ?"

"तपस्वी कैसे मना कर सकता था ? उसे अब कसाई के कथनानुसार दूकान पर ही नाक-भौं सिकोड़कर तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक कि दूकान बन्द करने का समय नहीं हुआ। घर आकर भी कसाई ने यद्यपि उन्हें आसन देकर बैठा दिया, तथापि कोई वार्तालाप न कर वह अपने बूढ़े पिता की सेवा में लग गया और स्नान आदि से निवृत्त हो उसने भगवान् का स्मरण भी किया। तब उसने तपस्वी-कुमार से वार्तालाप किया। उन्हें उस वृद्ध कसाई ने बताया कि मेरे पिता अत्यन्त वृद्ध हैं, मैं घर आकर पहले इनकी सेवा करता हूँ। यही मेरा धर्म है। कसाई का व्यवसाय तो मुझे पैतृक व्यवसाय के रूप में प्राप्त हुआ है। अतः मैं इसे बिना किसी आसक्ति के पूर्ण करता हूँ। किसी भी प्राणी से द्रोह न करके जीविका चलाना ही श्रेष्ठ धर्म है। जो सब जीवों का सुहृद होता है, वही वास्तव में धर्म को जानते हुए मन-वाणी, कर्म से सब का हित करता है। जो वृद्ध हैं, पुत्र और पौत्रों से युक्त हैं, शास्त्र के अनुसार आचरण करते हैं, उन महात्माओं के अनुसार मैं भी रहता हूँ। जैसे वृद्ध रोगी और दुर्बल मनुष्य भोगों की स्पृहा नहीं रखते उसी प्रकार मेरा मन भी भोगों के प्रति उदासीन है। तपस्वी-कुमार, जो कटु वचन बोलने वाला और दूसरों को भयंकर दण्ड देने वाला है वह तो सदैव मृत्यु के भय से आक्रान्त रहता है। ऐसा कहकर अन्त में उस कसाई ने तपस्वी-कुमार से कहा—जो मुझे मारता है, और जो मेरी प्रशंसा करता है,

वे दोनों ही मेरे लिए समान हैं। बुद्धिमान पुरुष ऐसे ही धर्म की प्रशंसा करते हैं। यति भी इसका सेवन करते हैं। धर्मात्मा भी सदा इसी धर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार स्वधर्म पालन की महान् महिमा सुनकर उन तरुण तपस्वी का अभिमान ही नहीं छूट गया, प्रत्युत् वे भली प्रकार धर्म में प्रतिष्ठित हो गए। इस प्रकार प्रिय युवको! आप भी जो गृहस्थाश्रम में जा रहे हैं, और जो नहीं जा रहे हैं, वे भी, इस सूक्ष्म धर्मगति को भली प्रकार समझ कर धारण करें।

"गृहस्थाश्रम शेष चारों आश्रमों का मेरुदण्ड है। हमारी संस्कृति त्याग से भोग में लाकर त्याग में ही परिणति प्राप्त करती है। हमारे यहाँ भोगों का संचय भी अपने लिए नहीं, अन्य के लिए होता है। यही श्रेष्ठ धर्म है। धन के लोभी गृहस्थ को किसी कर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। स्वधर्म पालन करने वाले गृहस्थ को विष्णु-लोक के सदृश उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। वह जितेन्द्रिय महात्माओं को मिलने वाली गति पा लेता है। प्यारे स्नातको! यही नहीं, यह उदार चित्त वाले गृहस्थ रमणीय स्वर्ग-लोक की प्राप्ति करते हैं। ब्रह्मा जी ने गृहस्थाश्रम को ही स्वर्ग-लोक की प्राप्ति का साधन बताया है। अतः आप उत्साहपूर्वक अपने धर्म का पालन करें। अपने धर्म में उत्साह कभी न छोड़ें, क्योंकि उत्साह से बढ़कर कोई बल नहीं है। उत्साही जीव के लिए संसार में कुछ दुर्लभ नहीं है। उसका प्रत्येक कार्य सफल होता है।"

अन्त में वशिष्ठ जी ने कहा—"कल्याण के भागी ब्रह्मचारियो! मैं आपको सभी वर्णों के लिए समान रूप से वर्णित

नौ धर्म बताता हूँ, वे हैं—अक्रोध, सत्यभाषण, धन को बाँटकर भोगना, क्षमा, अपनी ही धर्मपत्नी से पुत्रादि प्राप्त करना, अद्रोह, सरलता, शौच और स्वधर्म पालन। ब्राह्मण का धर्म है कि वे इन्द्रिय दमन, स्वाध्याय और दया का आचरण कभी न त्यागे, क्षत्रिय के लिए यही अभीष्ट है कि वह दान करे, पर माँगे नहीं। यज्ञ करे, पर कराये नहीं। वेदादि पढ़े, पर उनका अध्ययन न कराये। युद्ध भी क्षत्रिय के लिए निःश्रेयस का साधन है। उसका युद्ध भी धर्मोपार्जन के लिए होना चाहिये। वैश्य का प्रधान धर्म है, दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्र साधनों से धनोपार्जन करना। वह सावधानी से पशु-पालन भी करे। इस प्रकार, स्नातको! आप अपने-अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुए क्रमशः गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का पालन करें और इस जीवन की परम साधना का फल पाएँ। यश और कल्याण के भागी हों। अब मेरे साथ आप सभी इस शांति मंत्र का उच्चारण करें—ओम् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवा वहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः !"[१]

शान्ति पाठ के उपरान्त कुमारहारित और चिरकारी उपाधि प्राप्त करने वाले पचास शिष्यों को बारी-बारी बुलाते गए और महामुनि वशिष्ठ जी उन्हें श्री राम द्वारा रोपे गए

---

१. वह परमात्मा हम आचार्य और शिष्य दोनों की रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम साथ-साथ विद्या सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। त्रिविध ताप शान्त हों।

पवित्र आम्र वृक्ष के नूतन किसलयों के साथ-साथ मिथिला के प्रसिद्ध पाट से निर्मित पीत वर्ण के वे उत्तरीय भी देते गए जो रानी मदयन्ती अपने साथ लाई थीं। समस्त स्नातकों में सबसे अधिक साधुवाद के भागी मुनि उत्तंक ही हुए, जो इस वर्ष यजुर्वेदीय शाखा को छहों अंगों और कला सहित अध्ययन करके श्रोत्रिय हुए थे। आश्रम के सबसे पुराने शिष्य होने के नाते भी उन्होंने हीरक जयन्ती का सर्वोच्च सम्मान प्राप्त किया था। तुमुल हर्षध्वनि के बीच उन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से स्वयं गौतम मुनि के कण्ठ में शोभा पाने वाला उत्तरीय महामुनि वशिष्ठ जी के हाथों से ग्रहण किया। ऐसा विशेषानुग्रह प्राप्त कर भी उनके मुख पर हर्ष का कोई विशेष चिह्न दृष्टिगत नहीं हुआ। अनेक नदियों का जल प्राप्त कर सिन्धु को जैसे अपनी मर्यादा छोड़ते नहीं देखा जाता, वैसे ही अनेक विद्याओं की उपलब्धि से उत्तंक मुनि का अहंकार भी पूर्ववत् शून्य ही रहा। उनकी उस समय की निर्विकार मुद्रा का सबसे गहन प्रभाव किसी पर पड़ा तो वह अयोध्या की साम्राज्ञी मदयन्ती पर।



अभिशाप-अग्नि

रानी मदयन्ती अहिल्या जी से विदा लेकर लौट आईं। गौतम मुनि के तपोवन से वापस आने के लिए उनका मन नहीं करता था। पर मुनि वशिष्ठ जी को अयोध्या लौटकर एक अनुष्ठान का आयोजन करना था। अतः वे ज्ञानश्रेष्ठ मुनि वहां अधिक न ठहर सके। रानी मदयन्ती ने अहिल्या जी से आज्ञा ली और भारी मन से स्वदेश के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान के समय रानी मदयन्ती को अहिल्या जी ने एक अनुपम भेंट दी। वह थी एक सारिका। मधुपुष्पा ने उसे पाल-पोस कर बड़ा किया था। वह प्रातः-संध्या मंत्रोच्चारण तो करती ही थी, पर उसकी बड़ी विशेषता यह थी कि वह किसी भी

छद्मवेषधारी मनुष्य या दानव का रहस्य खोल देती थी। उसके भय से कोई भी तस्कर अथवा मायावी मुनि के आश्रम में नहीं आ पाता था। वास्तव में इन्द्र की धृष्टता के पश्चात् ही उस आश्रम में इस सुन्दर पक्षी का लालन-पोषण हुआ था और मधुपुष्पा का उस पर लगभग वैसा ही स्नेह था जैसे कण्व-पालिता शकुन्तला का हरिण-शावक में प्रसिद्ध था। अहिल्या जी ने वह सारिका जब मदयन्ती को भेंट में दी तो मधुपुष्पा की आँखों में अश्रु आ गए। मदयन्ती जी के देखते-देखते उस सारिका की भी नन्हीं आँखों के लाल-पीत डोरों की सीमा तोड़कर अश्रु-प्रवाह हो चला। उस समय उनका हृदय सारिका के इस प्रगाढ़ स्नेह से हिल गया और वह अहिल्या जी से बोलीं—"आप यही समझें कि मुझे आपकी कृपा सदैव प्राप्त रहेगी। अतः आश्रम के ही पवित्र वायुमण्डल में स्वच्छन्द विहार करने वाली इस सौभाग्यशालिनी मैना को आप यहीं रखें। वहाँ जाकर तो यह ऐसी ही हो जायगी, जैसे मानसरोवर की राज-हंसिनी किसी राजप्रासाद के कृत्रिम जलाशय में आकर उदास चित्त रहती है।"

पर अहिल्या जी नहीं मानीं। उन्होंने उत्तंक मुनि को बुलाया। वह सारिका उनसे ही विद्या ग्रहण कर सब पक्षियों में विशिष्ट हुई थी। उत्तंक जी ने उसे स्नेह से अपनी अंजलि में ले ओठों से पुचकार लिया। उसकी आँखों के समीप मुँह लगाकर उन्होंने ऐसा उपक्रम किया मानो उसके कान में कुछ कह रहे हों। उसी समय वह मैना उत्तंक मुनि के हाथ में से फुदककर रानी मदयन्ती के पीछे खड़ी उनकी एक परि-

चारिका के हाथ पर जा बैठी और पंख फुलाकर कहने लगी—"मैं अब अयोध्या जाऊँगी, मैं अयोध्या जाऊँगी, माता जी प्रणाम, उत्तंक जी प्रणाम।" और फिर उसने मानवीय स्नेह से ही दो बार पुकारा—"मधुपुष्पा ! मधुपुष्पा !"

मुनि वशिष्ठ जी और गौतम जी भी उस समय सारिका की यह शिष्टता देखकर चकित रह गए। रानी मदयन्ती तपोवन के सुखी, त्यागमय जीवन का विचार करते-करते लौट आईं। मार्ग में उसने गुरु वशिष्ठ जी से प्रार्थना की—"महामुने ! आप समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हैं। धर्म से बढ़कर कोई भी इस संसार में सहायक नहीं है, यह मैंने आप से ही भली प्रकार श्रवण किया है। मेरी रुचि धर्म-शास्त्र का श्रवण करने में है। आप कृपाकर अपने किसी परम विद्वान् और धर्म की सूक्ष्म-गति जानने वाले शिष्य को मुझे धर्म-इतिहास श्रवण कराने के कार्य में नियत करें तो आपकी महती कृपा होगी।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"देवि, तुम धन्य हो, जो अपने हृदय में पवित्र संस्कार लेकर लौट रही हो। सचमुच, जिस प्रकार चन्दनवन के निकट जाने वाले को न चाहने पर भी शीतलता प्राप्त होती है, उसी भाँति मुनियों का समागम करने वाला प्राणी भी अनायास कल्याण का मार्ग पा लेता है। देवि ! मेरे शिष्यों में धर्मव्रत नाम के शिष्य ने बहुत दिनों तक गुरु-सेवा की है। वह वेद-वेदांगों में निष्णात, धर्म की सूक्ष्म गति जानने वाले हैं। इसी अभिप्राय से मैंने उनका नाम धर्मव्रत रखा है। मैं उन्हें ही इस कार्य में रत करूँगा। वे सर्वथा इसी योग्य हैं कि आपकी धर्म विषयक जिज्ञासा का समाधान करें।"

रानी मदयन्ती की इच्छा थी कि धर्मव्रत जब अपराह्न में शास्त्रोपदेश करने आने लगेंगे तो उसके पति राजा सौदास भी धर्म-ज्ञान का श्रवण कर कल्याण के भागी बन सकेंगे। पर जिस प्रकार विष्ठा मुँह में दबाने वाले भ्रमर को कंज वन शोभा-हीन, निःसार प्रतीत होता है, उसी प्रकार विलासप्रिय नृपति की, अवसर उपस्थित होने पर भो, धर्मशास्त्र में रुचि नहीं होती। यद्यपि वे रानी मदयन्ती की प्रसन्नता के लिए ही अपने समस्त आचरण को उनके अनुकूल रखने में सचेष्ट रहते थे, तथापि जब से मदयन्ती मुनि गौतम के आश्रम से लौटी थीं और धर्मव्रत के उपदेशों के फलस्वरूप उनका चित्त राजभोगों की ओर से विशेष उदासीन हो चला था, तब से राजा सौदास के व्यवहार में भी किंचित परिवर्तन आ गया था। वे राजकाज और सहधर्मिणी की ओर से कुछ-कुछ उदास हो चले। एकान्त में ही अपने मनोरंजन के साधन ढूँढ़ते हुए वे राज और भोग दोनों की ही ओर से मन हटाने लगे। जहाँ पहले वे आखेट के लिए मास में एक ही बार जाते थे, वहाँ प्रायः नित्य ही सूर्योदय से पूर्व शिकार खेलने निकल जाते और मध्याह्न तक दो-चार हरिण अथवा कोई हिंस्र पशु मारकर थके हुए लौट आते। और फिर उनका सारा दिन विश्राम में व्यतीत हो जाता। रानी भी उनके इस व्यवहार से खिन्न रहने लगीं। उन का धर्मानुष्ठान बढ़ता गया। साथ ही राजा की अनुपस्थिति एवं उदासीनता के कारण महामात्य उनके परामर्श से ही शासन चलाने लगे। फिर तो राजा सौदास का आखेट में ऐसा मन लगा कि यदा-कदा वे दिन-दिन भर वन से नहीं आते थे।

रानी मदयन्ती उन्हें जितना समझाने की चेष्टा करतीं, वे उतना ही उसकी उपेक्षा करते। मृदु पुरुष का अनादर होता है। रानी जितनी विनय संपन्न होती, राजा उतने ही रुक्ष। रानी ने उनकी प्रसन्नता के लिए मणिमय दिव्य कुण्डलों को नित्य धारण करना आरंभ किया, पर राजा मानो रानी से अन्यत्र ही अपने आत्मसंतोष को ढूँढ़ते थे। उनकी मृगया-प्रियता ने व्यसन का रूप ले लिया। व्यसन के वश हुआ व्यक्ति प्रायः अपने ही हाथों अपना सर्वनाश बुला लेता है। ऐसी ही स्थिति में एक दिन राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ मृगया के लिए गहन दण्डक वन में गए। उन्होंने सोचा, 'शिकार के लिए इधर के सुपरिचित वनों में अब कोई नये जन्तु नहीं मिलते, अतः आमोद-प्रमोद का यह सुन्दर साधन अब रसहीन प्रतीत होने लगा है। एक पक्ष के लिए दण्डक वन की ओर चलूँ। आखेट के साथ ही वहाँ उन पावन स्थानों का भी दर्शन हो सकेगा जो राम के चरणों का स्पर्श पाकर पाप-नाशक हो चुके हैं।"

उनके इस संकल्प का रानी मदयन्ती ने स्वागत किया; क्योंकि वह स्वयं भी राम द्वारा पवित्र किये गए दण्डक वन का दर्शन करना चाहती थीं। उस आखेट-अभियान में अनेक हिंस्र पशुओं को मारते हुए राजा रानी एवं परिकर सहित पुण्य सलिला गोदावरी तक सकुशल पहुँच गए। मार्ग में उन्होंने अनेक पवित्र स्थलों का दर्शन किया। मदयन्ती ने सारी यात्रा में दिव्य कुण्डलों को बड़ी सावधानी से धारण किये रखा। सचमुच उन कुण्डलों को पहनकर वह सौदास को अनिंद्य

सुन्दरी जान पड़ती थीं। यात्रा में उनका उत्साह अलंकारों से विभूषित मंजुभाषिणी मदयन्ती के सहवास से सदा द्विगुणित होता रहा।

लौटते हुए जब राजा सौदास अपने चतुर सेवकों सहित पवई (पंपा) सरोवर में स्नान कर आगे बढ़े तो उन्होंने एक दिव्य पुरुष को आकाश से उतरते देखा। तुरंत ही उनकी दृष्टि रानी की पालकी पर गई। रानी कुछ-कुछ निद्रा के वश हो चली थीं। राजा ने चिंताकुल हो उन्हें तुरंत सावधान कर दिया। और उस दिव्य शरीरधारी की ओर अंगुली करके बोले—"प्रिया, शयन में इन कुण्डलों को देवता छीन ले जाते हैं। सावधान!" उनके ऐसा कहते-कहते ही वह दिव्य शरीरधारी पुरुष आकाश में अदृश्य हो गया, जैसे वाष्प का उड़ता हुआ मेघ देखते-देखते ही विलीन हो जाता है।

मदयन्ती ने तब जागरूक हो अपनी रत्नजटित पिटारी निकाल ली और उसमें अपने मणिमय कुण्डलों को रख लिया। इसके पश्चात् चार दिवस तक यात्रा निर्विघ्न होती रही। पांचवें दिन राजा सौदास उस स्थान पर पहुँच गए जहां पूर्व-काल में राम का दर्शन कर योगाग्नि में शरीर भस्म करने वाले मुनि शरभंग का आश्रम था। वहां एक विलक्षण घटना घटी। राजा का अश्व जैसे ही एक वट के नीचे से निकला, एक महा विकराल दैत्य ने अश्व पर उछलकर उसे ऐसा बोझिल कर दिया कि उसकी कमर झुक गई, और वह आगे नहीं चल सका। उष्ट्र की भाँति वह अपने पृष्ठ चरणों पर बैठने लगा। राजा पीछे की ओर लुढ़क कर नीचे भूमि पर

आ रहे। उन्होंने आश्चर्यचकित हो सामने देखा। काक-सा श्याम वर्ण, नीलमणि-सी चमकती नीली आँखों और शूर्पणखा जैसे नखों वाला वह दैत्य अपने सारस की चौंच जैसे लम्बे-लम्बे दाँत निकालकर राजा को क्रोध पूर्ण दृष्टि से देख रहा था। राजा का सारा परिकर इस आकस्मिक आक्रमण से हत-प्रभ हो गया। रानी मदयन्ती मूर्छिता हो गईं। चतुर सेवकों ने तुरंत उस दैत्य पर तीखे बाणों की वृष्टि की, पर वे बाण खण्ड-खण्ड होकर भूमि पर गिर गए, निशाचर का बाल बांका भी न हुआ। राजा ने तब धैर्य से काम लिया। तनिक संभल कर वे पीछे हट गए, और ताड़ना के स्वर में बोले—"अवधेश का मार्ग अवरुद्ध करने वाला तू कौन है रे? शठ, तू कोई राक्षस ही प्रतीत होता है। मेरे मार्ग से हट जा, अन्यथा मैं तेरा वैसे ही नाश कर दूँगा जैसे मेरे पूर्व पुरुष राम ने यहाँ अन्य निशाचरों का किया था।"

भयंकर अट्टहास से वह राक्षस हँसा और अत्यन्त क्रूर स्वर में उसने कहा, "मैं अपना आहार नहीं छोड़ सकता। मनुष्य तो मेरा खाद्य हैं। इस वृक्ष के नीचे से कोई भी मुझे अप्रसन्न करके आगे नहीं जा सकता।" इतना कहकर वह राजा की ओर हाथ फैला कर लपका। तुरंत ही सौदास ने अपनी पैनी तलवार से उसका मस्तक भूमि पर गिरा दिया। मस्तक कटने पर भी वह रानी की पालकी की ओर झपटा और तब तक शान्त नहीं हुआ, जब तक कि राजा ने उसके दो टूक नहीं कर दिए। उसके शान्त होते ही वहाँ करुण विलाप का गगनभेदी स्वर सुनाई दिया, पर रुदन करने वाला कोई

दृष्टिगत न हुआ। राजा ने उसे राक्षसी माया समझकर सेवकों को शीघ्र सवेग आगे बढ़ने की आज्ञा दी। रानी मदयन्ती की मूर्छा भी तब तक दूर हो गई।

अयोध्या जब कुछ ही दूर रह गई थी, तब रानी मदयन्ती की पालकी के आगे आकर एक युवक ने मार्ग अवरुद्ध कर दिया और वह रोने लगा। सेवकों ने उसे बाँह पकड़कर हटा दिया तब वह राजा के अश्व का मार्ग रोककर भूमि पर लेट गया। सेवकों ने दौड़कर उसे उठाया और बलपूर्वक राजमार्ग से हटाने की चेष्टा करने लगे। उसी समय राजा ने अश्व से नीचे उतर कर उस तरुण से प्रश्न किया, "तू कौन है रे?"

"महाराज! मैं आप ही की एक दुःखी प्रजा हूँ।"

"मेरी प्रजा?"—विस्मित हो राजा ने कहा—"तुझे क्या दुःख है? इस प्रकार राह क्यों रोकता है?"

"राजन्! आपकी दयालुता विख्यात है। महाराज, मैं मातृ-पितृहीन हूँ। कई दिन से मैंने कुछ नहीं खाया है" तरुण ने अत्यन्त दीनता से कहा, "दयालु! मुझे अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ करें।"

रानी मदयन्ती ने उस करुणाग्रस्त युवक को देखकर राजा सौदास से कहा, "बेचारा अनाथ है। अतः क्षम्य है। आर्यपुत्र, हो सके तो अवश्य इसकी सहायता करो।"

तरुण का विलाप कुछ शांत हुआ। राजा ने प्रश्न किया—"तेरे पिता क्या कार्य करते थे?"

"श्रीमान्! वे नगर के कुछ धनिकों के यहाँ सुआर का कार्य करते थे।

"तो क्या तू ने भी इसी कार्य में दक्षता प्राप्त की है ?"

"हाँ श्रीमान् ! देवताओं के वरदान से मैंने एक सिद्धि भी प्राप्त की है। थोड़ा ही अन्न क्यों न हो, मेरे पाकशाला में होने से वही अन्न बहुत हो जाता है। और ब्राह्मण तृप्त होकर राजा का यशोगान करते हुए लौटते हैं। साथ ही राजन्, मैं धार्मिक आख्यान कहने में भी चतुर हूँ।"

"अच्छा ! राजा का दर्शन दारिद्रय दूर करने वाला होता है।" राजा ने अमात्य से कहा—"नीतिशुक ! इस युवक को साथ ले चलो। पाकशाला में इसकी परीक्षा की जायेगी। साम्राज्ञी इससे धर्मोपाख्यान सुनकर इसकी कुशलता का समाचार देंगी। तरुण, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"श्रीमन् ! मुझे रसज्ञ कह सकते हैं।"

राजा सौदास के परिकर में सम्मिलित हो रसज्ञ राज-प्रासाद में आ गया। पर राजा से आश्वासन पाकर भी वह उत्फुल्ल दिखाई नहीं देता था। राजा के चतुर सुआरों ने उसकी परीक्षा में विलम्ब न किया। उसने जो-जो भोजन तैयार किए वह रानी मदयन्ती और राजा को अत्यधिक स्वादिष्ट प्रतीत हुए। उनकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए राजा ने रसज्ञ को अपनी पाकशाला में विशेष पद दे दिया। सन्ध्या समय का भोजन राजा तभी ग्रहण करते थे, जब कि रसज्ञ के हाथ का बना हो। राजा से सहसा इतना मान और विश्वास पाकर भी रसज्ञ कभी किसी अन्य राजसेवक से घनिष्ठता नहीं बढ़ाता था। रानी मदयन्ती के पास जाते हुए वह भय मानता था और जाता भी, तो चतुराई से उस समय

जाता था जब कि रानी के आसपास उसकी प्रिय सारिका नहीं रहती थी।

एक समय रानी ने धर्मव्रत की अनुपस्थिति में रसज्ञ को बुलाकर उससे धर्माख्यान सुनने की इच्छा प्रकट की। रसज्ञ ने पहले ही रानी से कहला दिया—"कृपया, नीति नामक सारिका को वहां से हटा दीजिये। अन्यथा वह वाचाल बीच-बीच में मन्त्रोच्चार कर बाधा बनेगी।"

रानी मदयन्ती को उसको बात रुचिकर प्रतीत हुई और उसने रसज्ञ के आते-आते अपनी विश्वस्त परिचारिका से नीति का कनक पींजरा दूसरे कक्ष में ले जाने को कह दिया। पर परिचारिका ने ले जाने में विलम्ब कर दिया। रसज्ञ को नीति ने देख लिया और तुरंत तीव्र स्वर में चिल्लाई—'जातुधान! जातुधान!' उसी समय वह दूसरे कक्ष में ले जाई जा चुकी थी।

रानी ने प्रसन्नता से कहा—"देखो रसज्ञ, यह कैसी विलक्षण सारिका है। मेरे मन की बात जानकर कह रही है—सावधान! सावधान! अर्थात् धर्मकथा सावधान होकर सुनूँ।"

सारिका की विशेषता जानने वाला रसज्ञ पहले तो 'जातुधान' शब्द सुनकर मृतप्राय हो गया था। पर रानी के कथन से उसे प्राण मिल गए। वह भी प्रसन्नता से बोला—"मैं तो पहले ही जानता था कि यह बड़ी वाचाल है। सचमुच, ऐसी प्रियवाणी बोलने वाले पक्षी मैंने अन्यत्र नहीं देखे।"

"हाँ, यह मुझे अहिल्या जी ने इसी विलक्षणता के कारण

तो दी है। अच्छा रसज्ञ जी, अब कोई मनोहर आख्यान सुनाइये।"

"साम्राज्ञी। इस पक्षी की चर्चा होने से मुझे भी एक चिड़िया का ही आख्यान स्मरण हो आया है।"

"चिड़िया का?" कौतूहल से रानी ने कहा।

"हाँ, देवि! उस चिड़िया का नाम पूजनी था।"

"पूजनी?"

"पूजनी एक ब्रह्मदत्त नाम के राजा के अन्त:पुर में ही घौंसला बनाकर रहती थी।"

"हमारी तरह राजा ने उसे पाल नहीं रखा था?"

"नहीं साम्राज्ञी! वह नीड़ बनाकर ही रहती थी। राजा उससे बहुत प्रसन्न था, क्योंकि वह मनुष्यों की भाँति वार्तालाप करने में दक्ष थी।"

"अच्छा? इस सारिका से भी उसमें अधिक विशेषता थी।"

"हाँ, आप सुनिये! एक बार ऐसा संयोग हुआ कि पूजनी ने एक दिन अपने नीड़ में एक बालक को जन्म दिया। संयोग से उसी दिन रानी के प्रसव से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बहुत दिनों से राजप्रासाद में रहने के कारण पूजनी भी राजपुत्र के जन्म से प्रसन्न हुई। वह दूर समुद्र-तट से दो फल नित्य लाती थी। एक अपने बालक को खिलाती और दूसरा राजपुत्र को। दोनों बच्चे कुछ ही समय पश्चात् हृष्ट-पुष्ट हो गए। पूजनी का बालक तो नीड़ में ही रहता था, पर राजपुत्र को धाय खिलाने लगी। एक दिन धाय ने पूजनी के बालक को नीड़ से उतार

लिया और राजपुत्र का उसी के द्वारा मन बहलाने लगी। पूजनी उस समय फल लेने गई थी। धाय के तनिक प्रमाद करने से ही राजपुत्र ने पूजनी के बालक को हाथ से दबोच दिया। तो वह बेचारा मर गया।

"अरे......रे......" शोक से मदयन्ती ने कहा—"फिर तो पूजनी बहुत दुखी हुई होगी?"

"हाँ, महारानी! पूजनी ने अपने मृत बालक को देखा तो क्षण मात्र में उसकी मृत्यु का कारण उसकी समझ में आगया। वह बिलख कर कहने लगी—क्षत्रिय राजा का संग कभी नहीं करना चाहिए। वे अपकार ही करते हैं। इस राजकुमार को मैंने फलों से पुष्ट किया और इसी ने मेरे पुत्र को मार डाला। यह कैसा क्रूर, कृतघ्न है। मैं अभी-अभी इससे वैर का पूरा-पूरा बदला लूंगी......"

"तो पूजनी ने बदला लिया?"

"हाँ, रानी जी! प्रतिहिंसा से पूजनी ने राजकुमार की दोनों आँखें फोड़ दीं।"

"आँखें फोड़ दीं?" विस्मय भरी वाणी से मदयन्ती ने कहा।

"और ब्रह्मदत्त राजा से उसने कहा—'राजन्! अब मेरा तुम्हारा वैर बंध गया है, इसलिए मैं अब तुम्हारे महल में न रहूँगी।'

"ब्रह्मदत्त ने सविनय कहा—'हमसे जो अपराध हुआ, उसका तू ने बदला ले लिया, हम बराबर हो गए। अब तू आनन्द-पूर्वक यहीं रह।

"पूजनी बोली—'राजन्, जिसने विश्वासघात किया हो उसका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। जिसका अपकार किया जाता है और जो अपकार करता है उनमें कभी प्रीति नहीं हो सकती। राजन् ! आपने जो मेरा अपकार किया है और मैंने जो आपका अपराध किया है, उसे हम सौ वर्षों में भी नहीं भूलेंगे। आप जैसे-जैसे अपने पुत्र की दुर्गति का स्मरण करेंगे, आपका वैर हरा होता जाएगा। इसलिए आप जो प्रीति करना चाहते हैं वह असम्भव है।'

"इतना सुन राजा ब्रह्मदत्त ने पूजनी को फिर समझाया—'अविश्वास करने से तो मनुष्य इस संसार में कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता।'

"पूजनी ने तुरंत कहा—किसी का कुछ भी अनिष्ट कर देने पर अनिष्ट करने वाले को उसका कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए। राजन् ! दुष्ट भार्या, दुष्ट देश, दुष्ट मित्र, दूषित संबंध और कुटिल राजा को तो दूर से ही त्याग देना चाहिए।"

"रानी मदयन्ती किंचित मुस्कराकर बोली—"तो पूजनी ब्रह्मदत्त को कुटिल समझने लगी थी।"

"निश्चय ही !" रसज्ञ ने आगे कहा—"पूजनी राजा ब्रह्मदत्त को संबोधित कर फिर बोली—'कुमित्र का स्नेह कभी स्थिर नहीं होता। अतः उससे प्रीति बनी रहनी कठिन है। राजन् ! आपके महल में रहने के कारण मैं भी आपकी प्रजा समान थी। आपने मेरी रक्षा नहीं की। जिस राज्य में राजा गुणवान् और धर्मपरायण होता है उसमें पुत्र, मित्र, धर्म की अनुकूलता होती है, और अधर्मी राजा के अत्याचार से प्रजा नष्ट हो जाती है।

जिस राजा की प्रजा कर के भारों से पीड़ित और अनर्थों से दु:खी रहती है, उसको अवश्य बुरे दिन देखने पड़ते हैं। इसके विपरीत जिसकी प्रजा कमल-बेल के समान विकसित होती है, उसको स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती है।"

"जरा सी पूजनी ने इतना सुन्दर उपदेश दिया ?" हँसी मिश्रित आश्चर्य से मदयन्ती बोली, "और क्या कहा पूजनी ने ?"

"बस इसी प्रकार राजा को राजधर्म का उपदेश कर पूजनी चली गई। हाँ, साम्राज्ञी, उसने एक और बात भी कही। वह बड़ा महत्त्वपूर्ण थी। ब्रह्मदत्त को लक्ष्य कर उसने कहा था, 'जो राजा विद्या संपन्न, तपस्वी और सदाचारी ब्राह्मणों को संतुष्ट रखता है, उसे बड़ा सुयश मिलता है। और वह अधिक काल तक राज्य करता है।"

"सचमुच ! हमारे वंश में हुए प्रतापी राजा श्री राम भी ब्राह्मणों की बड़ी सेवा करते थे। रसज्ञ ! आज का आख्यान तो बड़ा मार्मिक रहा। मैं इसका सार तत्त्व अवधेश को भी सुनाऊँगी। उन्हें ब्राह्मण-सेवा का महत्त्व ज्ञात है, फिर भी वे आजकल अपने धर्म के प्रति न जाने क्यों उदासीन हैं।"

"महारानी ! ब्राह्मणों के तप की महिमा महान् है।"

"हाँ, उनके सन्तुष्ट रहने से प्राचीन काल के अनेक राजाओं ने यश प्राप्त किया है और उनके रुष्ट होने से राजा नष्ट भी हो गये हैं।"

चतुर रसज्ञ ने जानबूझ कर अज्ञानवश हो कहा—"रानी जी, मैंने उनके नष्ट होने की बात नहीं सुनी। कृपा कर मुझे सुना सकें तो मेरा भी कल्याण हो।"

"रसज्ञ, मैं तुम्हारी धर्म-बुद्धि से बहुत प्रसन्न हूँ। मैंने महामुनि वशिष्ठ जी के प्रिय शिष्य धर्मव्रत जी से सुना था। प्राचीन काल में कैकय देश में भानुप्रताप नाम के राजा थे। उनका राज्य वैभव-सम्पन्न था। वह चक्रवर्ती थे। उनका किसी से वैर न था। पर उनसे पराजित हुए एक राजा उनसे सदा उसी प्रकार बदला लेने का अवसर देखते थे, जैसे पूजनी ने बदला लिया। एक बार वह भानुप्रताप राजा शिकार खेलने वन में गये। वहां एक विशालकाय जंगली सूअर के पीछे घोड़ा डाल कर वे रास्ता भटक गये। उनको भूख-प्यास से व्याकुल देखकर उनके पास एक साधु आया। वस्तुतः वह साधु वही छद्मवेषी राजा था, जो उनसे बदला लेना चाहता था। और जिस सूअर ने उन्हें मोहित किया था, वह एक मायावी राक्षस था, जो उस पराजित राजा का मित्र था। राजा भानुप्रताप उस छद्मवेषी साधु राजा के प्रति श्रद्धा से झुक गये। उन्होंने उससे अखण्ड राज्य करने का उपाय पूछा। साधु बने हुए राजा ने कहा—'मैं रसोई करूँगा और तुम अपने राज्य के समस्त ब्राह्मणों को आमंत्रित करो। नित्य जब एक सहस्र ब्राह्मण भोजन करेंगे तो शनैः शनैः आपके राज्य के समस्त ब्राह्मण भोजन कर लेंगे। आपके अन्न से तृप्त हुए ब्राह्मण आपको आशीर्वाद देगें तो निश्चय ही आपका राज्य अखण्ड हो जायेगा।' रसज्ञ जी! इस प्रकार राजा भानुप्रताप ने उसकी बात स्वीकार कर ली। और राज्य में आकर सहस्रों ब्राह्मणों को आमंत्रित कर लिया, छली राजा का मित्र राक्षस वहाँ माया से पहले ही उपस्थित था। उसने स्वयं रसोइया बनकर भोजन पकाया और भानुप्रताप

के सुआर को लोप कर दिया ।"

"फिर क्या हुआ, महारानी जी ?" बहुत ध्यान से सारा प्रसंग सुनने वाले रसज्ञ ने प्रश्न किया ।

रानी मदयन्ती बोली—"बस, उस छली ने रसोई में ब्राह्मण का मांस पका दिया ।"

"अरे···रे···बड़ा अनिष्ट किया ।" भीतर से प्रसन्न होकर भी रसज्ञ ने बाह्य खेद प्रकट किया ।

"ऐसा भोजन परोसते ही आकाशवाणी हुई—'ब्राह्मणो ! यह भोजन न करना । इसमें ब्राह्मण का मांस है ।' भानुप्रताप शोचग्रस्त हो गये । ब्राह्मणों ने भोजन छोड़कर शाप दे डाला—'राजन् ! तू ने हमारा धर्म नष्ट करने की कुचेष्टा की है, जा तू सकुल राक्षस हो जा । तेरे कुल में कोई जल-दाता भी न रहे ।'

"बड़ा भयंकर शाप दिया । मेरे तो रोम खड़े हो गये ।" रसज्ञ ने कहा ।

"पर तभी फिर आकाशवाणी हुई ! विप्रगण, राजा का कोई दोष नहीं है । शाप विचार कर नहीं दिया । तब भानु-प्रताप ने रसोइये की खोज की । पर वह तो अपना कार्य सिद्ध कर जा चुका था । ब्राह्मण भी विवश होकर चले गये । तब साधुवेश-धारी राजा ने सब ओर से सेनाएँ बुलाईं और विप्र शाप से तेजहीन हुए भानुप्रताप को नष्ट कर दिया ।"

"हाँ, स्मरण हो आता है, यही भानुप्रताप सकुल रावण बना था ।"

"ठीक है, रसज्ञ ! हम जानते हैं, घर में सुआर अत्यन्त

विश्वसनीय होना चाहिए। यह हमारा सौभाग्य ही है कि दण्डक वन की यात्रा में तुम जैसा धर्मज्ञ रसज्ञ हमें मिल गया।"

रसज्ञ ने श्रद्धा से सिर झुका कर मानो रानी की प्रशंसा को ग्रहण किया और वह रानी की आज्ञा ले वहाँ से लौट आया।

कुछ दिवस पश्चात् ही महामुनि वशिष्ठ जो का दीर्घकालीन अनुष्ठान समाप्त हुआ। राजा सौदास ने इस अनुष्ठान की समाप्ति पर गुरु वशिष्ठ जी को शिष्यों सहित राज्य परंपरा के अनुसार ही प्रसाद पाने के निमित्त आमंत्रित किया। उस दिन भी राजप्रासाद के वातावरण ने छोटे से उत्सव का ही रूप ले लिया था। रसज्ञ ने उस दिन राजा को सन्तुष्ट करने के भाव से ब्रह्ममुहूर्त की बेला से ही पाकशाला में कार्य आरंभ कर दिया था।

वशिष्ठ जी के आगमन पर उनका स्वागत करने के अभिप्राय से राजा ने अपनी सहधर्मिणी को भी सचेष्ट रहने का संकेत कर दिया था। नारी-सुलभ साहस एवं चपलता-वश वह अपने साथ सारिका को भी ले आई और प्रवेश द्वार के समीप ही उसके पिंजरे को स्थिर कर दिया। वह आशा करती थी कि गौतम आश्रम में पली सारिका कुलगुरु वशिष्ठ जी के आगमन पर मंत्रोच्चार द्वारा उनका स्वागत करेगी। पर इसके विपरीत वह तीन बार—"जातुधान ! जातुधान ! जातुधान !" कह कर चुप हो गई।

सौदास पहले से ही इस सारिका को अच्छा नहीं मानते थे, क्योंकि उसे गौतम जी के यहां से लाया गया था। उसकी

अटपटी बोली सुनकर उन्होंने पिंजरा ले जाने का संकेत कर दिया।

वशिष्ठ जी ने चरणों में नत सौदास-दम्पति को आशीर्वाद देते हुए कहा—"देवि ! यह वही सारिका है जो मुनिश्रेष्ठ गौतम जी के यहाँ रहती थी ?"

"जी ! न जाने क्यों कुछ दिनों से 'सावधान', 'सावधान' के अतिरिक्त और कुछ बोलती ही नहीं।"

गुरु वशिष्ठ जी मौन हो गए। पर उनके कानों में सारिका का शब्द 'जातुधान' स्पष्ट गूंजने लगा। वे त्रिकालदर्शी ऋषि गंभीर हो गए और 'जातुधान' शब्द पर विचार करने लगे। उसी समय वहां सोने के थालों में भोजन आने लगा तो वशिष्ठ जी के साथ आसीन ब्रह्मचारी उच्च स्वर में भोजन के समय स्वस्तिवाचन करने लगे—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥[1]

इस श्लोक का उच्चारण समाप्त ही हुआ था कि सहसा वशिष्ठ जी ऐसी ही तीव्रगति से पीछे हट गए जैसे जल में डाला गया पाषाण खण्ड गुरुत्वाकर्षण से खिंचकर दूर गहराई में चला जाता है। इस आकस्मिक स्तब्ध वातावरण में वशिष्ठ जी अपनी क्रोधपूर्ण गंभीर वाणी में बोले—"राजन् ! तू ने हमें ब्राह्मण का मांस परोस दिया है। हमें धर्मभ्रष्ट करने

१. मैं ही सब प्राणियों के शरीर में वैश्वानर अग्निरूप से स्थिर होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न पचाता हूँ।

वाला राजा संध्या आते ही राक्षस हो जाय।"

गुरु के शाप से राजप्रासाद में मानो हाहाकार मच गया। मदयन्ती करुण स्वर में विनय करती हुई उनके चरणों में गिर गई—"महाराज ! इनका कोई दोष नहीं। कोई दोष नहीं। क्षमा कीजिये। आप क्षमा-मूर्ति हैं।…" तभी रानी ने विचलित होकर सेवकों से कहा—"रसज्ञ को तुरंत यहाँ लाओ।" पर रानी के इतना कहने पर तो वहां वैसा ही करुण विलाप सुनाई पड़ा, जैसा राजा द्वारा दण्डकारण्य की यात्रा में राक्षस को मारने के पश्चात् सुनाई पड़ा था। उसी क्षण वह विलाप का स्वर अट्टहास में बदल गया। और वशिष्ठ जी सहित सब के कानों में यह शब्द सुनाई पड़े—"राजा सौदास, तुमने मेरे भाई की हत्या की थी। आज पूजनी चिड़िया और भानुप्रताप के प्रसंग से प्रेरित हो मैंने बलवान् शत्रु से छल करके अपना बदला ले लिया है। 'जातुधान' की रटना लगाने वाली बैरन सारिका का स्वर भी अब इस प्रासाद में सुनाई न देगा।" भयंकर अट्टहास के साथ वह स्वर शांत हो गया। अब तो रानी और भी करुण स्वर में रोने लगीं। पर सौदास ये सब वृत्तांत सुनकर कुपित हो गया। उनका राज्याभिमान जाग्रत हुआ और सोने की झारी में से जल हाथ में लेकर वह गुरु वशिष्ठ जी को संबोधित कर बोले—"गुरु देव ! मेरी आप में श्रद्धा है, पर आपने मुझे अकारण शाप दिया है। अतः मैं भी आप को शाप देता हूँ।"

"नहीं, नहीं। राजन् ! आप दयालु और धर्मात्मा हैं।—" मदयन्ती विह्वल हो पति के चरणों में आ गिरी। "गुरु जी का

शाप कल्याण के लिए होता है। आप कदापि उन्हें उलट कर शाप न दें। इससे बढ़कर हमारा अनिष्ट करने वाला और कोई कृत्य नहीं हो सकता।"

राजा ने विवेक का सहारा ले, वह अभिषिक्त जल अपने ही चरणों पर डाल लिया। उनके पैर तत्काल काले पड़ गए। पर इसकी तनिक भी चिंता न कर, रानी ने पुनः वशिष्ठ जी के चरण पकड़ लिए। और कहा—"महात्मन्! आप सारी स्थिति समझ चुके हैं। आप मुझ पर कृपा कीजिये। आपके अनुग्रह से ही आपका यह शाप राजा के लिए कल्याणकारी हो जाय।"

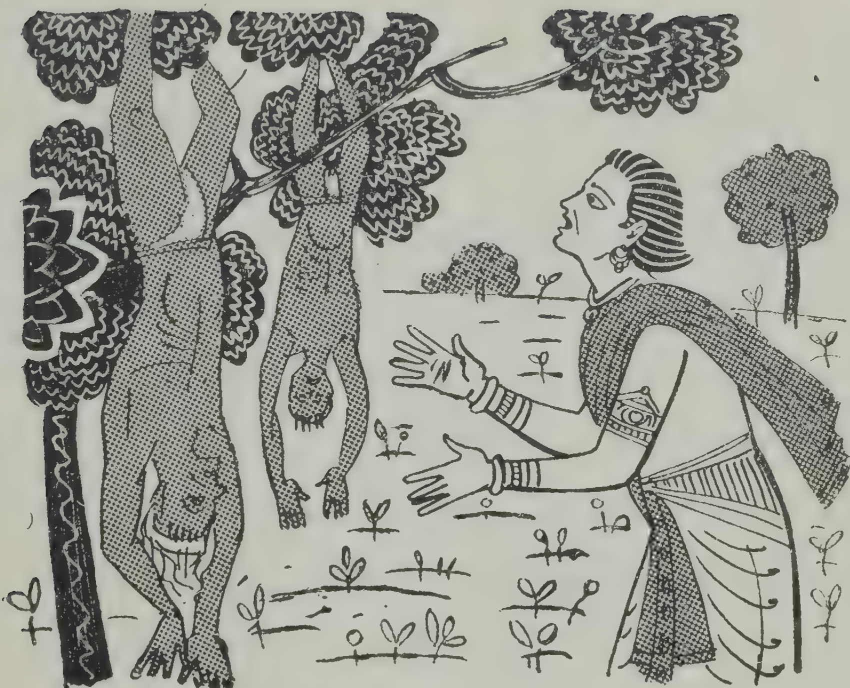
मुनि वशिष्ठ जी की वाणी उसी प्रकार गंभीर थी, पर उसमें अब क्रोध न था। वह बोले, "देवि मदयन्ती! तुम्हारी धर्म में सदा प्रवृत्ति रहती है। शाप जो दिया जा चुका, वह भोगना ही पड़ेगा। भवितव्यता में ऐसा ही विधान होगा। राजा, मैं इस शाप को केवल बारह वर्ष के लिए सीमित करता हूँ। राक्षसवत् व्यवहार करते हुए भी तुम्हारा विवेक प्रायः बना रहेगा। छद्मवेषधारी उस शत्रु पर जो मित्रवत् व्यवहार करे, किसी राजा को विश्वास नहीं करना चाहिये। शाप की अवधि बीतने पर आपका महामुनि गौतम जी से संपर्क होगा। वही आपको कल्याण का मार्ग बताएँगे।"

इतना कहकर वशिष्ठ जी उसी समय अपने शिष्य समाज सहित राजप्रासाद से चले गए। अपने पीछे जो नितान्त गंभीर स्तब्ध वातावरण वह छोड़ गए थे, उसमें रानी मदयन्ती फफक-फफक कर रोती रहीं। तभी किसी परिचारिका ने करुण स्वर

में आकर कहा—"महारानी जी ! अप्रिय समाचार सुनाने वाली दासी को क्षमा करें। सारिका ने सहसा प्राण छोड़ दिए हैं।"

"अच्छा हुआ।" भयंकर अट्टहास से कल्माषपाद सौदास चिल्लाए—"जब से सारिका यहां आई, हम पर अनिष्ट का मेघ छा गया।"

शनैः-शनैः उनका सारा शरीर काला पड़ने लगा और केश घने होने लगे। भयंकर चीत्कार के साथ रानी मदयन्ती मूर्छा से ग्रस्त हो गईं। सौदास अपने ही दांतों से अपने कपड़े चीर-चीर करने लगे। रानी मदयन्ती के समीप जाकर उन्होंने उसके वस्त्र भी नोंचने की चेष्टा की। चतुर दासियों ने रानी को सावधानी से उठाकर उनके कक्ष में डाल दिया और उनमें से एक राजवैद्य को बुलाने दौड़ गई। अयोध्यावासियों में राजा के शापवश राक्षस होने का दुःखद समाचार आग की भाँति फैलने लगा। सारी नगरी पर राम-वनवास के समय जैसी ही करुणा व्याप्त हो गई। नागरिकों के रुदन-विलाप से किंचित भी प्रभावित न हो, राजा सौदास पागल हाथी की भाँति चिंघाड़ते हुए अयोध्या के हाट में निकल आये। वे वन की ओर दौड़ रहे थे और चिल्लाते जा रहे थे—"मैं राजा हूँ, अवधेश हूँ, कौन कहता है कि मैं राक्षस हूँ।" उनके पीछे अयोध्या अपनी साम्राज्ञी मदयन्ती की तरह ही जैसे जड़, स्तब्ध, असहाय, अबला-सी खड़ी रह गई।



भोर का स्वप्न

प्रतिवर्ष इसी प्रकार समावर्तन समारोह होते रहे और नचिकेता की भूमिका संपन्न करने वाले उत्तंक का इन्द्रिय-संयम, शौच, पुरुषार्थ एवं सेवा परायणता से युक्त तप बढ़ता गया। तप कर स्वर्ण कुन्दन बन जाता है। उत्तंक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हो गये। गौतम मुनि के आश्रम से गृहस्थ में लौटने वाले सहस्रों छात्रों ने वेद-वेदाँगों में पारंगत मुनि उत्तंक से भी विद्याएं प्राप्त की थीं। चिरकारी भी हिमालय में जाकर शतानन्द की भांति ही कठोर तपस्या में संलग्न हो गये थे। पर उत्तंक अपने ही कर्तव्यों में ध्रुव की भाँति दृढ़ रहे। मुनि गौतम

की जिस निस्पृह भाव से वे सेवा करते रहे थे, उसका उन्हें जो कुछ फल मिल रहा था, उसके प्रति भी जैसे वह अज्ञानी ही बने रहते थे। भली प्रकार सेवित भूमि जैसे सुन्दर अन्न प्रदान करती है, वैसे ही उत्तंक मुनि की सेवा से प्रसन्न होकर गुरु ने उन्हें ब्रह्मविद्या की उपलब्धि करा दी थी। सूक्ष्म आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी जिस प्रकार कहीं लिप्त नहीं होता, वैसे ही उत्तंक भी सदैव कर्मरत रहते हुए अपने को असंग रखते थे। और उनका यही अभ्यास समय के साथ-साथ दृढ़ होता रहा। यहां तक कि रानी मदयन्ती से कुछ आत्मीयता का सम्बन्ध हो जाने के कारण, सौदास के शापाधीन हो राक्षस बन जाने के समाचार से अहिल्या जी, मधुपुष्पा और स्वयं गौतम मुनि जी भी कुछ खिन्न हुए थे, परन्तु उत्तंक जी पर उस समाचार का भी कोई प्रभाव न पड़ा। उन्होंने समाचार लाने वाली मधुपुष्पा से केवल इतना ही कहा—"कर्म की गति ही बलवान् है। विषादग्रस्त मनुष्य को कर्मों के आत्यन्तिक क्षय के लिए ही प्रयत्नशील रहना चाहिये। जिसने पर और अवर का रहस्य जान लिया है, उसके ही कर्मों का क्षय होता है। अन्यथा मनुष्य को कर्मफल भोगने के लिए पुनः पुनः जीवन-मरण के चक्र में विवश होकर पड़ना होता है। मधुपुष्पा, जैसे बाड़ो में लगे खरबूजे उगते हैं, और पकने पर तोड़ लिए जाते हैं, उसी प्रकार जीवन की इस बेलि में भी पके हुए कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म फल समाप्त होने पर राजा सौदास भी पुनः अपनी राजधानी में लौट आयेंगे।"

"मैं समझती हूँ, इतना अपराध बनने पर भी वशिष्ठ जी

को ऐसा कठोर शाप नहीं देना चाहिये था। वे तो राजा के कुल-गुरु थे।" मधुपुष्पा ने कहा।

"देवि ! यह तुम्हारा दृष्टिकोण है। तपस्वी जब क्रोधवश होता है, तब अनर्थ हो ही जाता है।"

"ऐसा भी क्या तप, जिससे दूसरों का जीवन ही संकट में पड़ जाय। मैंने तो यही समझा है कि तप आत्मकल्याण और परोपकार के ही लिए होता है। परपीड़ा तो अधमाई है।"

"मैं जानता हूँ क्रोध ही समस्त अनर्थों की जड़ है। पर महामुनि वशिष्ठ जी के निर्णय में मुझे कोई सन्देह नहीं। उन्होंने शाप को बारह वर्ष के लिए सीमित कर और दिन के छठे पहर में ही राक्षस रूप राजा के लिए भोजन का विधान कर उन पर अनुग्रह ही किया है। अन्यथा वे सर्वदा अभक्ष्य का सेवन कर अपने धर्म से पूर्णतः गिर जाते।"

"धर्म, धर्म ! आप ही इतने कठोर धर्म का पालन कर रहे हैं, वह किस काम का ? आप से किसका कल्याण हो रहा है। आपका इतना घोर तप किस कामना की सिद्धि के लिए है ?" मधुपुष्पा के स्वर में खिंचाव आ गया था।

"मधुपुष्पा ! अब तुम विषय को अनावश्यक विस्तार दे रही हो। जिस तत्त्व को तुम नहीं समझ सकतीं, उसके विषय में तर्क-वितर्क करने से कोई लाभ नहीं। मनुष्य की आयु, धन, शुभाशुभ कर्मफल, विद्या और मरण का निमित्त ये पांचों जन्म से पूर्व ही निश्चित हो जाते हैं। अतः इस सम्बन्ध में हमें चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। जाओ, विश्राम करो।"

मधुपुष्पा खीजकर चली आई और उत्तंक मुनि अपनी

कुटिया में दीपक की लौ उकसाकर अपनी कुठारी के फल को तीक्ष्णतर करने लगे, क्योंकि प्रातःकाल ही उन्हें काष्ठ संचय के लिए वन में जाना था।

प्रातः वे अपेक्षाकृत जल्दी ही उठ गए। अभी आकाश से तारे झाँक रहे थे। उन्होंने संकल्प किया कि आज दूर गहन वन से काष्ठ लाऊंगा। कटेरी, कीकर आदि की कण्टकाकीर्ण झाड़ियों को पार करते हुए वे ऐसे खुले मैदान में आये, जहां दूर-दूर तक हरी भूमि दृष्टिगोचर होती थी। उन्हें विस्मय हुआ—आज मैं किधर आ गया हूँ। कहीं दिशाभ्रम तो नहीं हुआ। पर वे तुरंत सोचने लगे—ठीक ही तो है। वह दूर दक्षिण दिशा में पर्वत दृष्टिगोचर हो रहा है। अन्तर इतना ही है कि आज मैं पूर्वी मार्ग से आया हूँ। ऐसा सोचते हुए वे आगे बढ़ गए। सहसा मार्ग में एक गहन सरिता देखकर वह ठिठक गए। यह सरिता कौन सी है? इसका निर्मल जल तो मैं पहली बार ही देख रहा हूँ। पर रुके वह वहां भी नहीं। योग-बल से उन्होंने वह नदी बिना तैरे ही पार कर ली। नदी के उस पार पहुँचने पर बड़ी शीतल हवा के झोंके उनके शरीर में नव स्फूर्ति भरने लगे। वह अपनी कुठारी को संभाले हुए शीघ्रता से आगे बढ़ चले। अत्यन्त समीप दिखाई देने वाला वन मानो उनके ही बढ़ते पगों के साथ दूर हो जाता था। फिर भी वे बिना थकान अनुभव किए आगे बढ़ते जा रहे थे। उन्हें वहां शुक-सारिका और कोकिल की मधुर ध्वनियां सुनाई पड़ती थीं। पर, कोई आँखों के सामने नहीं आ रहा था। शनैः-शनैः प्राची दिशा में ऊषा की लाली बिखर गई। और

फिर समस्त वन प्रदेश सूर्य की रश्मियों से मण्डित हो जगमगा उठा, मानो वर्षा से धुले हुए पौधों और हरी खेती पर सूर्य की प्रथम किरणें पड़ीं। वहीं उत्तंक जी को एक सरोवर दृष्टिगत हुआ। उसमें श्वेत नील और अरुण कमल विकसित होते जा रहे थे, मानो किसी साम्राज्ञी के मस्तक, नासिका और श्रवणेन्द्रियों में नाना प्रकार के हीरे-पन्नों से जड़े हुए अलंकार जगमगा रहे हों। उत्तंक मुनि को अब थकान प्रतीत हुई। वे सरोवर के किनारे बैठकर जल पीने लगे। पिपासा शांत कर वह जैसे ही आगे बढ़ने को उठे, सरोवर का जल अदृश्य हो गया। उसने एक गहन खंदक का रूप ले लिया। वन-कान्तार का प्रदेश भी सहसा भयावह हो गया और सूर्य का प्रकाश घटाटोप मेघाच्छादित आकाश से उत्पन्न मध्यम प्रकाश में परिवर्तित हो गया। मुनि उत्तंक का मस्तक मानो घुर्मित हो चला। विक्षिप्त हो उन्होंने आँखें फाड़कर चारों ओर इस भाव से देखा कि अब किधर जाऊं, तभी एक समीपवर्ती वृक्ष की ओर से उनके कानों में एक विलक्षण स्वर पड़ा—'बस, अब हमारा अन्त निकट है।'

मुनि उत्तंक ने व्याकुल हो उस ओर देखा। लगभग सौ पग दूर के एक वट वृक्ष की ओर से आये हुए स्वर की ओर वे बढ़ गये। उस विशाल वट वृक्ष के नीचे पहुँच कर मध्यम प्रकाश में ही मुनि उत्तंक ने ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, सब ओर ध्यानपूर्वक देखा कि स्वर किसका है और कहाँ से आया है। पर उन्हें कुछ दिखाई न पड़ा। तब उन्होंने लगभग चीत्कार के स्वर में कहा—'इस गहन, एकान्त वन प्रदेश में मुझे आर्त वाणी

सुनाने वाला कौन है ?'

'इस वृक्ष की सबसे आगे वाली शाखा देखो। हम इसी पर लटक रहे हैं।' कई आर्त स्वर एक साथ सुनाई दिये।

विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उत्तंक ने उस शाखा की ओर देखा। वह इतनी आगे और गहरी खंदक में झुकी हुई थी कि उस तक पहुँचना असम्भव था। उत्तंक को उसी शाखा के सहारे लटके हुए सात ऋषि दिखाई दिये। वे अत्यन्त क्षीण-काय और कृश थे। उनकी श्वेत जटायें किसी ने वृक्ष की शाखा से बर्बरतापूर्वक बांध दी थी। उत्तंक भय से कांप गये। आँखें दोनों हाथों से मूंदकर वे एक क्षण पृथ्वी पर धम् से बैठ गये। दूसरे ही क्षण फिर आँखें खोलकर उन्होंने ऊपर देखा, तो एक श्वेत तथा एक श्याम वर्ण का मूषक उस शाखा को काट रहे थे। देखने में वे दोनों मूषक बिल्ली के आकार के जान पड़ते थे। उत्तंक मुनि ने अधीरता से प्रश्न किया—'ऋषिगण ! आप ऐसी अवस्था को क्यों प्राप्त हुए हैं। आप कौन हैं और किसने आपका अपराध किया है।'

'वत्स ! हम बहुत समय से यहाँ इस दुर्गति को भोग रहे हैं। तुम कौन परोपकारी हो जो हमारी कुशल पूछने आये हो ? भगवान् तुम्हारा कल्याण करे।'

'मैं मुनि गौतम के आश्रम का एक तुच्छ सेवक हूँ। कहिये, आपकी प्रसन्नता के लिये कौन सा-कार्य कर सकता हूँ।...'

'तात !'—ऋषिगण उसी मर्मभेदी वाणी में बोले—'हम महान् कष्ट में पड़ गये हैं; अब कुछ समय पश्चात् हमारा

कष्ट और भी बढ़ जाने वाला है। मुनिकुमार ! हमें जिस अधम से पीड़ा हुई है, उसका नाम है उत्तंक। वह कहीं मिल जाय तो उसे भेजना।"

यह सुनकर उत्तंक की आँखों में अंधेरा छा गया। वह ऐसे ही व्याकुल हो गये जैसे किसी मस्त मत्तंग के मर्मस्थल पर महावत ने अंकुश घुपो दिया हो। 'महामते !' व्यथित हो उन्होंने कहा—'उत्तंक तो मैं ही हूँ ! कहिये आपको मुझसे कैसे पीड़ा पहुँची ? मैं आपके कष्ट को तत्काल दूर कर देना चाहता हूँ। आपकी यह पीड़ा मुझे भी महान् पीड़ा में डाले दे रही है।'

'तात ! हम तुम्हारे पितर हैं। तुमने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का जो व्रत लिया है, उसी से हमें महान् कष्ट हो रहा है। अब तुम्हारी भी वृद्धावस्था आ चुकी है। कुछ समय पश्चात् तुम भी उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे जैसे हम रात्रि-दिवस रूपी चूहों द्वारा यह शाखा काट डालने पर नरक में गिर जायेंगे। वत्स, तुम्हारे हाथ में यह जो कुठारी है, इसी से तुम इस वृक्ष की शाखा छिन्न-भिन्न कर दो। हमें संतोष तो होगा कि हम अपने वंशज के हाथों हो नरक में जा रहे हैं।'

'नहीं ! नहीं ! आप ऐसा न कहें।' गहरी व्यथा से उत्तंक ने चिल्लाकर कहा—'मैं अपने तेजस्वी पिता का ऐसा अधम पुत्र नहीं हूँ, जो अपने पितृगण को नरक में भेजूं।' महात्मन् ! आप सर्व प्रकार से समर्थ हैं, कृपा कर मुझे आज्ञा दीजिये, मैं कौन से उपाय से आपका अभीष्ट सिद्ध कर सकता हूँ।'

'वत्स ! तुम गृहस्थ-आश्रम में अविलम्ब पदार्पण करो और अपने जैसा ही तेजस्वी, तपोनिष्ठ पुत्र-रत्न उत्पन्न कर भृगुवंश की कीर्ति बढ़ाओ। उसके तर्पण से ही हमारे लिये नरक का खुला हुआ द्वार अवरुद्ध हो सकेगा।'

गहरे पश्चात्ताप से उत्तंक मौन हो गये। सोचने लगे—'क्या पितृगण की रक्षा के लिये अपने जीवन की अमूल्य साधना का चिरसंचित धन यों नष्ट कर देना होगा? अब उनकी वाणी दुःख से भर आई—'महाभाग ! क्या मेरे और अपने कल्याण का कोई अन्य मार्ग नहीं बता सकते।'

'नहीं, वत्स ! इसमें भी तुम्हें शीघ्रता करनी होगी, अन्यथा तुम्हारा ब्रह्मचर्य आश्रम सफल नहीं होगा।'...

कोई और उपाय न देखकर भय से कम्पित हुये उत्तांक बोले—'तब आप ही बताइये, मेरे योग्य कन्या कौन है? उसी का पाणिग्रहण करूँगा।'

तब उस शाखा पर लटकते हुए ऋषिगणों में से जो सबसे वृद्ध और कृश प्रतीत होते थे, अपनी काँपती हुई वाणी में बोले—'तात ! तुम्हारे ओज को धारण करने में तुम्हारे ही समान गुण और तेज वाली गौतम-सुता मधुपुष्पा है। उसी का वरण करो।'

'मधुपुष्पा?' विस्मयपूर्ण स्वर में उत्तंक चिल्लाये—'मधुपुष्पा?—पर···वह तो गुरु-पुत्री होने के सम्बन्ध से मेरी भगिनी-तुल्य है। यह तो असम्भव है ऋषिगण !'

'मूर्ख ! हम जानते हैं, वह तुझ पर आसक्त है। यदि तूने उसे अस्वीकार किया तो उसके शाप से तेरा तेज वैसे ही

नष्ट हो ज़ाएगा, जैसा कि देवयानी के शाप से कच का तप नष्ट हो गया था। तू इसी समय उसे पुकार, वह स्वयं अपनी बात अपने मुँह से कहेगी।'

उत्तंक किंकर्तव्यविमूढ़ से एक क्षण उस विकराल भयोत्पादक खंदक के किनारे खड़े के खड़े रह गये और चिल्लाने लगे—'मधुपुष्पा, मधुपुष्पा ! ओ, मधुपुष्पा !!'…धीरे-धीरे वहां प्रकाश फैलने लगा और खंदक के स्थान पर सरोवर दिखाई देने लगा। उसके दूसरे किनारे से मधुपुष्पा उत्तंक जी को अपनी ही ओर आती दिखाई दी। तब वे और भी तीव्र स्वर में चिल्लाये—'मधुपुष्पा ! मधुपुष्पा ! वहीं रहो। पानी गहरा है। मैं आता हूँ।' उनका स्वर सरोवर के चहुँदिशि गूंज गया।

तभी हारितकुमार ने उनकी बाँह झँझोड़ते हुए कहा—"भैया उत्तंक, क्या हुआ ? चित्त स्वस्थ तो है ?"

हड़बड़ा कर उत्तंक उठ खड़े हुए—"हारित तुम ? यहाँ कैसे ?"

"तुम्हारा ही स्वर सुनकर आया हूँ। तुम मधुपुष्पा को पुकार रहे थे न ?"

"मधुपुष्पा को ?" विक्षिप्त विमूढ़ की नाईं उत्तंक बोले—"मैं मधुपुष्पा को पुकार रहा था ? असंभव ! असंभव !!"—तभी वे किसी मतवाले की भाँति अपनी जटाओं और दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए पूछने लगे—"हारित ! क्या मैं वृद्ध हो गया हूँ। सच बताना !"

कुमार हारित स्वयं पागल की तरह उनके अर्धनिमीलित नेत्रों को देख रहा था। उसने कहा—"जान पड़ता

है, भइया, तुमने कोई स्वप्न देखा है।"

"स्वप्न ! हाँ, हाँ, स्वप्न !—" उत्तंक कुछ चेतन स्वर में बोले—"हाँ, हारित भइया, तुम ठीक कहते हो। मैंने अभी-अभी बड़ा भयानक स्वप्न देखा है।···गत सन्ध्या को हमने गुरुजी से गायत्री और पितृ-पक्ष के महत्त्व पर जो महात्मा जरत्कारू का आख्यान सुना था, उस सारी घटना को मैंने अभी विचित्र ढंग से अपने नेत्रों के सामने घटते देखा है। अन्तर इतना ही था कि जरत्कारू के स्थान पर मैंने सर्वत्र अपने को देखा !"

"और वासुकी की भगिनी जरत्कारू के स्थान पर मधु-पुष्पा को, क्यों ?" हारित यह कह कर हँस पड़ा।

चकित-भ्रमित से उत्तंक उसके कंधे पर हाथ रखकर पूछने लगे—"क्या भोर का स्वप्न सत्य होता है, हारित ?....बाहर कोने में मेरी कुठारी तो रखी है न ?"

"रखी है।..." हारित फिर हँसा।—"हाँ, उत्तंक भैया, भोर का स्वप्न सत्य करने की तुम में पूर्ण क्षमता है। तुम्हारे जैसा गुरुभक्त, तेजस्वी मुनिकुमार इस आश्रम में न तो है, न हुआ और न होगा।" हारित यह कटाक्ष कर उनकी कुटिया से बाहर निकल गया। उत्तंक का प्रलाप सुनकर जो दो-चार ब्रह्मचारी उनकी कुटिया के बाहर आकर हारित को देख ठिठक गए थे और उत्सुकता से इस अनहोनी घटना का कारण जानने के लिए व्यग्र थे, बाहर आते-आते हारित उन सब की ओर व्यंग्य और उपेक्षा से देखते हुए कहता गया—"परम तपस्वीजी अब मधुपुष्पा के स्वप्न देखने लगे हैं।" इस एक ही वाक्य

से वहाँ का स्तब्ध वातावरण गहरी नीरवता से भर उठा।

हारित के बाहर जाते ही उत्तंक मुनि विचार-मग्न बैठे रह गए। उन्होंने सिद्धासन लगाकर प्रणव जपने का उपक्रम किया, पर आँखें मूँदते ही वह समस्त दृश्य एक साथ नेत्रों में मूर्त हो उठा जो उन्होंने अभी स्वप्न में देखा था और "ॐ-ॐ" की गूँज विलुप्त होकर उसके स्थान पर उनके श्रवणपुटों में सुन पड़ा—"तुम्हारे समान ओज और गुणवाली मधुपुष्पा है। तुम उसी का पाणिग्रहण करो।" मस्तिष्क झनझना उठा उत्तंक का। तभी उन्होंने अपने को नचिकेता के रूप में मंच पर खड़े देखा और यमराज ने उनसे कहा—'तू यह समस्त सुन्दर रमणियाँ ले ले, पृथ्वी का राज्य ले ले पर तीसरा वर कुछ और ही मांग ले।'···नचिकेता बने उत्तंक ने तब यमराज से कहा—'जब सारे ही भोग पदार्थ क्षय होने वाले हैं, तो उनमें किसी विवेकी का क्या प्रयोजन हो सकता है? हे मृत्यो! मुझे तुम उसका उपदेश करो जो मरणधर्मा नहीं है।' उत्तंक का प्रणव-जप तब कुछ स्थिर हुआ। पर दो क्षण पश्चात् फिर नेत्रों के समक्ष सुन्दर कमल पुष्पों से आच्छादित सरोवर के उस पार से मधुपुष्पा दौड़ कर उनकी ओर आती हुई दिखाई दी। विचलित मन वाले उत्तंक मुनि से उस समय जप न हो सका। उनके कठोर तपोमय जीवन के दीर्घ काल में ऐसा अवसर प्रथम बार ही आया था कि मन दुर्निग्रह का व्रत ठान बैठा था, और प्रचण्ड वायु के वेग से पीड़ित दीपक की लौ की भांति छटपटा रहा था। विवश हो उत्तंक मुनि उठ खड़े हुए और समय से पूर्व ही नित्य कर्मों से निवृत्त हो गए। आश्रम में प्रातःकालिक क्रियाएँ

समाप्त कर वे वन में काष्ठ भार लाने चले गए।

पग-पग पर आज उनका मन हठ कर रहा था। आगे बढ़ते हुए उनके सम्मुख बारंबार वही सरोवर, उपवन, गहन वन, वटवृक्ष और ऋषिगण उपस्थित हो जाते जो स्वप्न में देखे थे। बार-बार जैसे अन्तर मन पुकारने लगता—'मधुपुष्पा ! मधुपुष्पा !'—यहां तक कि अनेक बार वह ठोकर खाते-खाते बचे। एक बार बीच मार्ग में बैठ गए और मस्तक पर हाथ रख पछतावा करने लगे—'प्रभु ! यह मेरा कौन सा पाप कर्म उदय हुआ है, जो मेरा समस्त ज्ञान-विवेक नष्ट हुए जा रहा है।' तभी ऐसा प्रतीत होता मानो मधुपुष्पा पीछे से आकर कन्धा पकड़ कह रही हो—'आर्यपुत्र ! थक गए। चलो, उस शीतल-छाया वाले अश्वत्थ के नीचे चलो। मैं आपके चरण पलोटकर सुख प्राप्त करूँगी।...विचलित होकर वह उठ खड़े हुए और भागकर आगे वन में बढ़ने लगे। उसी समय जरत्कारू का आख्यान सुनाने वाले गौतम मुनि का शब्द मानो श्रवण-पुटों में आ गया—'पितृगण की सेवा, तृप्ति भी वैसी ही आवश्यक है जैसे अपने निजी शरीर को। अतः इस आख्यान का यही सार है कि वंश-वृद्धि के लिए अधिक नहीं तो न्यून से न्यून एक पुत्र का पिता तो अवश्य ही बने।...'

यह कहकर गौतम जी की छाया अदृश्य हो गई और फिर तार्किक बुद्धि का शब्द आया—'तू तो वृद्ध हो गया। तुझे गुरु जी ने गृहस्थ में जाने की आज्ञा ही नहीं दी। तेरी सेवा से इतने सन्तुष्ट हैं वे कि तुझे भेज ही नहीं सकते। तेरे अतिरिक्त और कौन सा शिष्य यहाँ आयु भर रुका है।...मूर्ख ! गृहस्थ का

सुख भोगे बिना क्या किसी ने परमपद की प्राप्ति की है? तेरा ज्ञान अधूरा है।'

'नहीं, नहीं।' उत्तंक बोले—'तेरा तर्क युक्ति-युक्त नहीं है। देख, बाल-ब्रह्मचारी हनूमान और भीष्म ने परमपद की प्राप्ति की थी। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में भी जब ब्रह्मचर्य धारण किये बिना सिद्धि प्राप्ति असंभव है, तो आजन्म ब्रह्मचारी रहे आने में ही क्या हानि है?'

'मूर्ख! जरत्कारू के पितृगण जैसे नरकगामी होने जा रहे थे और जरत्कारू ने एक ही पुत्रोत्पन्न कर उन्हें बचा लिया, उसी प्रकार तू भी एक ही पुत्र की प्राप्ति के लिए गृहस्थ हो जा। गृहस्थ से बड़ा कोई आश्रम नहीं। यह इसी आश्रमवासियों की श्रद्धा का फल है कि शेष तीनों आश्रम अपने-अपने स्थानों में सुस्थिर हैं। यह भी कोई शोभा की बात है कि गृहस्थ में जाकर जो व्यक्ति अपना कर्तव्य पूर्ण न करे वह जन्म भर प्रतिग्रह के अन्न पर ही जिये? तुझे साधना करनी ही है, तो जनक की तरह गृहस्थ में रहकर उसे पूरा कर। वहीं सच्ची परीक्षा के अवसर उपस्थित होते हैं, गुरु के तपोवन में नहीं।'

विक्षिप्त मुनि उत्तंक के आगे ऐसा अंधेरा छा गया कि वे एक वृक्ष का आश्रय ले खड़े रह गए। उस अंधकार में पुनः प्रकाश फैलने लगा। सूर्य की किरणें विकीर्ण होने लगीं और सरोवर में पद्म, पंकज, जलज विकसित होने लगे। इस तट से उन्होंने पुकारा—'मधुपुष्पा!' और उस तट की ओर से पुष्प अलंकारों से सजी मधुर मुस्कान से अपने अरुण रदपुटों के मध्य सीप से उज्ज्वल दांत चमकाती हुई मधुपुष्पा चली आ रही थी।

हाथ फैलाए द्रुतगति से दौड़ी चली आ रही थी कि सहसा वह सरोवर न देख पायी और उसमें धड़ाम से जल-निमग्न हो गई। जलाशय हिल उठा। उत्तंक बहुत जोर से चिल्लाये— "मधुपुष्पा !" सारा वन शब्दायमान हो उठा और वह स्वयं अपने पर पश्चात्ताप करते हुए उसी वृक्ष के सहारे आ बैठे।

अन्तर मन से फिर एक स्वर उठा— 'गुरु ने तेरी सेवा से प्रसन्न होकर ही तुझे अब तक घर लौटने की आज्ञा नहीं दी। वे स्वार्थी हैं।'

'क्या गौतम जैसे अहैतुक कृपालु भी स्वार्थी हो सकते हैं ? अरे दुष्ट मन, ऐसे संकल्प-विकल्प करने से तो यही अच्छा है कि तुझे नष्ट कर दूँ।' उत्तंक ने अपनी ही ग्रीवा पर कुठारी उठाई तो उसी वृक्ष पर एक कपोती को अपने नवजात शिशु के मुँह में अन्न-कण देते हुए और दूसरे शिशु को फुदक-फुदक कर अन्न ग्रहण करने के लिए उतावला देखा और उनके हाथ से कुठारी गिर गई। हाथ काँपने लगे। मत्स्य-परिवार की क्रीड़ा देखकर जैसे सौभरि[1] के मन में विकार आया था, वैसे ही कपोत-कपोती के संसर्ग से उत्तंक मुनि का विचलित मन और भी विकारग्रस्त हो गया।

गुरु जी से गृहस्थ में लौट जाने की आज्ञा लेने के लिए वह अधीर, अस्थिर हो उठे। गहरे आलोड़न के पश्चात् जैसे दधि नवनीत को प्रकट कर शाँत हो जाता है, वैसे ही स्वप्न में भी मधुपुष्पा का संसर्ग प्राप्त कर मुनि उत्तंक के मन में उठा प्रबल ज्वार गृहस्थ में लौटने के निश्चय से शांत हुआ।

१. कथा कृपया परिशिष्ट में देखिए।

चाहता था। वह बहुत विचलित हो गए। तभी शोक से उनका हाथ अपनी शुभ्र श्वेत जटाओं पर चला गया और संतप्त हुए वह उन्हें नोचते हुए कहने लगे—"हाय, मैं वृद्ध हो गया। मेरे पितर नरकगामी हुए जाते हैं!"

हाथ में एक बक-सा श्वेत केश आने से उनका स्वर और भी करुण हो गया। वे विलाप करने लगे—"हाय! दीर्घ-कालीन गुरु-सेवा करते हुए मैंने भव-विभव में कुछ भी तो प्राप्त नहीं किया। मेरी सारी साधना विफल हुई ही समझो।" इस प्रकार विलाप करते हुए मुनि उत्तंक को बहुत समय हो गया। पश्चात्ताप की अग्नि में जल कर वह रोने लगे।

उसी समय वहाँ उन्हें ढूँढ़ते हुए कुछ ब्रह्मचारियों सहित गौतम मुनि आ उपस्थित हुए। हारित से उन अत्यन्त असाधारण शिष्य के स्वप्न का समाचार सुनकर परम विवेकी और सूक्ष्म द्रष्टा ऋषिश्रेष्ठ गौतम अपने साथ अहिल्या जी और पुत्री मधुपुष्पा को भी ले आये थे। उन्होंने दूर से उत्तंक का करुण विलाप सुन उसे पुकारा "वत्स! उत्तंक! उत्तंक! ऐसे करुण विलाप का क्या कारण है, बेटा?"

गुरु जी का संवेदनापूर्ण स्वर सुनकर उत्तंक का धैर्य नष्ट हो गया, गौतम जी के समीप आते आते वे और भी तीव्र स्वर से रोने लगे। उन्हें माता अहिल्या आदि के साथ देखकर भी उत्तंक से मौन न रहा गया। मन, वचन, कर्म में सदा सत्य को प्रतिष्ठित करने वाले मुनि उत्तंक ने अपने हृदय का उद्गार स्पष्ट शब्दों में गुरु जी के समक्ष रख दिया—"महामुने! आज अपने इन श्वेत केशों के कारण ही मुझे विलाप करना

पड़ रहा है।" उत्तंक ने अपने हाथ का रजत-सा केश गौतम की ओर बढ़ा दिया। "आप मेरे लिए ईश्वर तुल्य हैं। मैंने आपकी सेवा में यहीं रहकर अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया। सहस्रों शिष्य यहाँ से विद्या प्राप्त कर लौट गये। पर मैं वर्तमान में भी यहीं हूँ। मैंने आज तक गृहस्थ आश्रम में जाने का संकल्प नहीं किया। यद्यपि मैंने आपके ही श्रीमुख से उसका महत्त्व अनेकों बार सुना है। हाय ! मैं कैसा अधम हूँ, कि मैंने धर्म का सूक्ष्म ज्ञान श्रवण करके भी उसे ग्रहण नहीं किया।"

"वत्स ! धैर्य धरो !—बेटी"—गौतमजी ने फिर मधुपुष्पा से कहा—"मेरी आज्ञा से तुम शिष्य-वर उत्तंक के इन अश्रुओं को धारण करो। इन परम तेजस्वी नैष्ठिक ब्रह्मचारी के अश्रु धारण करने की क्षमता पृथ्वी में भी नहीं है।"

पूर्ण स्तब्ध वातावरण में मधुपुष्पा ने उत्तंक के अश्रुओं को धारण तो किया, पर उसके हाथ जल उठे। जब गौतमजी की आज्ञा से सभी जन आश्रम लौट चले, तो ऊपर वृक्ष से एक अंडा गिरा और ठीक मुनि उत्तंक के आगे भूमि पर फूट गया। पर वे विचार-मग्न गुरु का अनुकरण कर चल पड़े।

गुरु-वत्सल उत्तंक के संताप को दूर करने के लिये गौतमजी ने उन्हें अपने कक्ष में बुला लिया और उनके शीश पर बड़े दुलार-स्नेह से हाथ फेरते हुए बोले—"बेटा, तेरी सेवा से मैं इतना प्रसन्न रहा हूँ कि तू मुझे चिरकारी और शतानन्द से भी अधिक प्रिय हो गया है। वत्स ! तू ने कभी गृहस्थ में जाने

के लिये आज्ञा नहीं मांगी । इसमें किसी का क्या दोष ? मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ। तेरी समस्त विद्याएँ सफल हों। तेरा सदा मंगल हो। तू धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों का भागी हो। तेरा यश शुक्लपक्ष के चन्द्र की भाँति नित-नित वृद्धि को प्राप्त हो। तू समर्थ पुरुष की भाँति गृहस्थ में प्रवेश कर। तेरी धर्म में सदा बुद्धि बनी रहे।" इतना कहते-कहते गौतम मुनि का कण्ठ आर्द्र हो आया और वे मौन हो गये।

उत्तंक का स्वर भी भीज गया। गुरु के चरणों में शीश नवाकर वह बोले—"गुरु श्रेष्ठ ! आपने जो कहा वह सत्य है। आपकी कृपा से मैंने सब कुछ पा लिया। परन्तु महर्षि ! गुरु दक्षिणा के अभाव में मेरी कोई विद्या सफल हो सकेगी, इसमें मुझे संदेह है !"

"प्रिय उत्तंक ! मैंने तेरी सेवा-परायणता में ही सब कुछ प्राप्त कर लिया। तू निश्चिन्त होकर अब जीवन के उस सोपान पर निःशंक होकर पग रख, जो चारों ही पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है।"

"पर मुनि-श्रेष्ठ ! जिस प्रकार आप सदा मेरी सेवा से संतुष्ट रहे हैं, उसी प्रकार आज जब मैं, देवताओं के लिये भी दुर्लभ इस परम शान्तिदायक तपोवन से विदा हो रहा हूँ, मेरी एक तुच्छ सेवा और स्वीकार करें। मैं प्राणों को उत्सर्ग करके भी आपको दक्षिणा से संतुष्ट करना चाहता हूँ।"

"विवेकी उत्तंक ! तू जो कुछ कह रहा है, उसमें किंचित भी संदेह नहीं। पर वत्स, तू ही देख, क्या मेरी कोई कामना

ऐसी है, जो पूर्ण होने के लिये रास्ता देख रही हो ? तू प्रसन्नता-पूर्वक अपने निःश्रेयस का साधन करने में संलग्न हो । तू यदि अपने तपोबल से आज पुनः यौवन प्राप्त करले तो तेरे समान ही तेजस्विनी मधुपुष्पा तेरा वरण कर लेगी, और अपने को धन्य मानेगी ।"

"महामुनि ! आप ऐसा कह रहे हैं तो इसमें अवश्य कोई रहस्य होगा । पर गुरुश्रेष्ठ ! इस समय तो मैं आपकी आज्ञा से अपना पुरुषार्थ गुरु-दक्षिणा-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी चेष्टा में प्रवृत्त नहीं करना चाहता । आपकी आज्ञा से मैं माता अहिल्या जी को ही अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी कोई मणि-रत्न अथवा अन्य कोई बहुमूल्य पदार्थ प्रदान कर कृतकृत्य होना चाहता हूँ ।..."

गौतम मुनि ने उसी प्रकार गंभीर पर आर्द्र स्वर में कहा, "शिष्यों में श्रेष्ठ उत्तंक, तू इस दिशा में मेरा पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त कर ।"

गुरु गौतम जी के चरणों में एक बार पुनः शीश झुका कर उत्तंक जी ने माता अहिल्या के आगे मस्तक आ झुकाया और सविनय कहने लगे—"माता-श्री, आपकी परम कृपा से गुरु जी का आशीर्वाद प्राप्त कर मैं इस तपोवन से जा रहा हूँ । यहाँ अनेकों वृक्षों का मैंने पुत्रवत् पालन किया है । इसी से मैं जानता हूँ कि पुत्र का पालन करना कैसा कठिन होता है । आपने भी मेरी पुत्रवत् रक्षा की है और अपने आशीर्वाद से, कृपा-कटाक्ष से, सदैव उत्साहित करते हुए मुझे सफल पुरुषार्थ किया है । इसी से माता-श्री, आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं गुरु

दक्षिणा स्वरूप क्या उत्तम पदार्थ आपको भेंट करूँ ।"

"बेटा ! तू ने तो अपने प्रति हमारा वैसा ही मोह जगा दिया, जैसा कि सांसारिक पुरुषों को अपने पुत्र-पुत्रियों में होता है। तेरी सेवा-परायणता का अन्यत्र कोई उदाहरण नहीं है। ऐसे गुरु-भक्त से दक्षिणा मांगना क्या लज्जा की बात नहीं होगी, जिसने गुरु सेवा के आगे अपने अहंकार को सर्वथा जीतकर पूर्ण जितेन्द्रियता प्राप्त कर ली हो। बेटा, यह जो तेरे मन में आज विकार आया है, यह तेरे लिए निश्चय ही कल्याणप्रद होगा। तू परमधाम का यात्री है, तेरी यात्रा सफल होगी, इसमें संदेह नहीं।" अहिल्या जी के नेत्र अश्रुप्लावित हो चले।

उनके उद्‌गार सुनकर भी उत्तंक ने वही कहा जो गौतम जी से कहा था। वह बोले—"मातुश्री, बिना गुरु-दक्षिणा चुकाये तो मेरा समस्त पुरुषार्थ, तप निष्फल ही हो जायेगा। आप अपनी इच्छा से कुछ भी आज्ञा दीजिए। उसे पूरा करने में उत्तंक का तपोबल आकाश-पाताल की दुर्लभ वस्तुओं को भी उपस्थित कर सकता है।"

उत्तंक के स्वर में किंचित अभिमान और गर्व का समावेश देख अहिल्या जी खिन्नता से मौन हो गईं। उनके मन में भय हो आया कि कहीं यह भी तो अहंकारवश तपोभ्रष्ट नहीं हो जायेगा। इसी समय उत्तंक जी ने फिर कहा—"माताजी, गुरु कृपा से अब मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। देवता, यक्ष, नाग भी जिस वस्तु को दुर्लभ समझते हैं, मैं वह भी लाने में समर्थ हूँ।..."

"देवता", "यक्ष", "नाग" तीनों शब्द एक साथ कान में

पड़े तो अहिल्या जी को जैसे कुछ स्मरण हो आया। उनकी दृष्टि सहसा समीप ही बैठी नतग्रीवा मधुपुष्पा पर चली गई और जैसे किसी अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करती हुई वे बोलीं—"वत्स ! अत्यधिक संघर्षण से चन्दन भी अग्नि प्रकट कर देता है। अतः तुम अधिक हठ न करो। हम दोनों तुम्हारी सेवा से संतुष्ट हैं। तुम पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि के निमित्त ब्रह्मचर्य का सोपान लांघकर क्रमशः शेष तीनों आश्रमों का भी सुखपूर्वक भोग करो।"

"पर मातुश्री, आज तो आपको मेरा आग्रह स्वीकार करना ही पड़ेगा", कहते-कहते उत्तंक की दृष्टि भी चुपचाप मधुपुष्पा तक जाकर लौट आई।—"आप कोई भी दुर्लभ अन्यतम वस्तु लाने की आज्ञा देकर मेरी विद्या को साफल्य प्रदान करने की कृपा करें।

तब तनिक सरोष होकर बोलीं अहिल्याजी—"तो बेटा, तू नहीं मानेगा······जा······मेरे लिये तू चार दिनों में ही रानी मदयन्ती के मणिमय कुण्डल लाकर अपनी विद्या का ऋण चुका और कृत-कृत्य हो।"

उत्तंक यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, इतने प्रसन्न कि गुरु गौतम जी के पास न जाकर वह सवेग सीधे तपोवन से बाहर चल दिये और शीश झुकाकर कहते गये—"आपके आशीर्वाद से, माता जी, यह दुरूह कार्य सम्पन्न हुआ ही जानिये।"



एक और कठिन परीक्षा

निष्पाप ब्राह्मण कुमार उत्तंक तपोवन के वातावरण से बाहर आकर जब अयोध्या की ओर चल पड़े तो उनके चित्त में पुनः विचार सिंधु उमड़ आया। वे सोचने लगे—'रानी मदयन्ती क्या उन दिव्य कुण्डलों का मोह छोड़ सकेंगी ? रात्रि-दिवस स्वर्ण बरसाते हैं वे कुण्डल। सचमुच, राजा सौदास के शापवश राक्षस हो जाने से यह कार्य कुछ कठिन हो गया है। माता अहिल्या जी ने केवल चार दिवस का ही समय देकर मेरी समस्त साधना को परीक्षा की कसौटी पर चढ़ा दिया है।' सोचते-सोचते उन्हें धर्मज्ञ, विशाल-लोचना, विनीता और कमल दल के समान प्रफुल्ल मुख वाली

मधुपुष्पा का ध्यान हो आया जिसके परम कमनीय शरीर से सदैव चम्पा के पुष्प जैसी सुगन्ध आती रहती थी। उसके साथ ही उन्हें ध्यान आया कि गुरु की आज्ञा से उसने किस प्रकार अत्यन्त विनम्र भाव से उनके अग्नि-स्फुलिंगों के समान अश्रु-बिन्दुओं को निःसंकोच धारण किया था। उसके हाथ झुलस गये थे और वह किंचित भी उद्वेग को प्राप्त नहीं हुई थी। सहसा गुरु गौतम मुनि के शब्द श्रवण-पुटों में गूँजने लगे। "तुम अपने तपोबल से युवक हो जाओ और तेजस्विनी मधु-पुष्पा का पाणिग्रहण करो। उत्तंक जी की गति तीव्र हो गई। वे सोचने लगे—'क्या सचमुच गृहस्थ आश्रम इतना आवश्यक है ?' तब उनके नेत्रों में कपोती-कपोत का परिवार झाँकने लगा। किन्तु अगले ही क्षण उन्हें उस अण्डे का स्मरण हो आया जो उनके सामने ही पृथ्वी पर गिरकर फूट गया था। उसके सम्बन्ध में वे सोचने लगे—'ओ हो, कैसा दुस्सह दुःख हुआ होगा, कपोती को ! उस अण्डे के ध्वस्त, धराशायी होने से उसका शिशु अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया। ओह, यह मृत्यु कैसी भयावह होती है, यह किसी को जीवित नहीं छोड़ती। छिद्रयुक्त घट से जिस प्रकार शनैः-शैनैः जल रिसता है, उसी प्रकार यह समस्त शरीर भी क्रमशः क्षय ग्रस्त होते हुये नष्ट हो जाते हैं। इस अनित्य और असुखपूर्ण लोक में जीव को किसी प्रपंच में न पड़कर अपना कल्याण ही साधना चाहिए। गृह-प्रपंच तो जंजाल है। इसमें फँसकर क्या मनुष्य निर्मोही हो सकता है, असंभव, असंभव ! उत्तंक तू अपने कुटिल मन के विकारों को परास्त कर। गुरु-दक्षिणा के साधन रूप दिव्य कुण्डलों को प्राप्त कर। तू गुरु

ऋण से मुक्त हो। देव-ऋण से तू तपोवन में अनेकों यज्ञों का अनुष्ठान कर मुक्त हो ही चुका है।'—सोचते-सोचते सहसा पुनः व्यवधान पड़ गया। अन्तर्मन प्रश्न कर बैठा—'और पितृ-ऋण ? उत्तंक, क्या पितृ-ऋण चुकाये बिना तू अपने जीवन में परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेगा ?'

उनका मस्तिष्क एकबारगी झनझना उठा। वे पुनः समस्त पुरुषार्थ जुटा कुण्डलों की प्राप्ति के साथ मधुपुष्पा का पाणि-ग्रहण संस्कार संयुक्त कर आगे बढ़ने लगे। उस समय उनके मुख पर मानो वैसा ही पराक्रम उद्भूत हो आया था जैसा दिग्विजय के लिए प्रयाण करते समय महाबली अर्जुन की मुद्रा पर विद्यमान था। चलते-चलते उन्हें गुरु-पत्नी अहिल्याजी का आदेश स्मरण हुआ—"यदि तू गुरु दक्षिणा चुकाना ही चाहता है तो जा, चार दिनों में ही रानी मदयन्ती के दो दिव्य मणिमय कुण्डल लेकर आ।" वे सोचने लगे—'चार दिनों में क्या यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा ?' उसी समय बायीं ओर से शृगाल के रुदन का अनिष्टसूचक स्वर सुनाई दिया। मुनि उत्तंक ठिठक गये! "अरे! यह दिवस काल में शृगाल का रुदन क्या मेरी भावी असफलता का सूचक है—ओह! क्या मैं साधना की सिद्धि के समय ही पथभ्रष्ट हो जाऊँगा ......नहीं, नहीं! मैं मुनि गौतम की शपथ करके कहता हूँ, मैं अपने पुरुषार्थ से अवश्य इस कठिन अभियान में सफल हो जाऊँगा।" ऐसा सोचकर मुनि उत्तंक ने समीप ही एक वट वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर लघिमा सिद्धि का आवाहन किया। 'काय काशयो : संबंधसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्'—के

अनुसार शरीर और आकाश के संबंध में चित्त का तूल में संयम कर वे आकाश-गमन के लिये तत्पर हो गये। तब वे शीघ्र ही अयोध्या पहुँच गए।

पर, अयोध्या तो सूनी सी पड़ी थी। किसी भी प्रजावासी के मन में उत्साह दिखाई नहीं देता था। उत्तंक सशंक मन राज-प्रासाद पर पहुँचे तो उन्हें अमात्यों से ज्ञात हुआ कि "रानी मदयन्ती खिन्न चित्त हैं और प्रायः वन में निर्मित पर्णशाला में ही जीवन व्यतीत कर रही हैं। दिन के छठे पहर में वे राजा सौदास के समीप नहीं जातीं, अन्यथा दूर से ही वे यदाकदा कल्माषपाद सौदास के दर्शन कर लेती हैं। वे पतिव्रता रानी समस्त राजोचित भोगों का त्याग कर भगवताराधन में तल्लीन हैं। पति का राक्षसत्व जब तक समाप्त नहीं होगा, वे ऐसा ही कठोर व्रत धारण किए रहेंगी।" उत्तंक ने अमात्यों द्वारा प्रदत्त फलाहार भी स्वीकार न किया और समय नष्ट न करने के उद्देश्य से वे तुरन्त उसी निर्जन वन की ओर चल दिये जहाँ अमात्यों ने रानी की पर्णशाला बताई थी।

पुनः आकाश में गमन करते हुए वे रानी मदयन्ती के समीप पहुँच गये। रानी मदयन्ती उन्हें पहचानती थीं। उन्होंने तुरन्त आदर भाव से नतमस्तक हो मुनि का अभिवादन किया। और कहा—"मेरा कोई बड़ा पुण्य उदय हुआ है, जो आप यहाँ पधारे हैं। कहिए, मुनिश्रेष्ठ गौतम जी और अहिल्या जी आनन्द-पूर्वक तो हैं? पुत्री मधुपुष्पा तो सुखी हैं? आश्रम में सर्वप्रकार से मंगल तो है?"

"हाँ, महारानी! आश्रमवासी आपकी विपत्ति के समाचार

से ही खिन्न हैं। यों वहाँ अशान्ति का कोई कारण नहीं है।"

समयानुकूल आसन प्रदान कर रानी ने उत्तंक जी को बैठा दिया। फिर कहने लगीं—"हे अनघ ! कहिए। आप किस उद्देश्य से यहाँ इस निर्जन वन में मेरे पास पधारे हैं?"

"परम् विदुषी, रानी जी ! मेरे आने का उद्देश्य उच्च है। मेरे एक अत्यन्त साधारण अभीष्ट की सिद्धि आपके ही हाथों हो सकती है। कृपा कर उसे पूर्ण करें और गुरु-ऋण से मुक्त कराने में मेरी सहायक बनें।"

"तो आप गुरु-दक्षिणा के निमित्त धन चाहते हैं? मेरा सौभाग्य है कि आप जैसा निष्पाप ब्राह्मणकुमार गुरु-दक्षिणा के लिए अवधेश के पास आया है। कहिए, मुनिकुमार, आपको कितना धन चाहिए? मैं अविलम्ब उसकी व्यवस्था कराने में कोई संकोच न करूंगी।"

"धर्मज्ञ रानी जी ! मुझे आपसे ऐसी ही आशा थी। किन्तु, मेरी गुरु-दक्षिणा धन से नहीं चुकाई जा सकेगी।......"

"तब? आज्ञा दीजिये, आपकी अभीष्ट वस्तु क्या है?"

"रानी मदयन्ती जी ! मुझसे गुरु-पत्नी तपस्विनी अहिल्या-जी ने आपके मणिमय कुण्डल मांगे हैं?"

"मणिमय कुण्डल !" तनिक शोचग्रस्त हो रानी ने कहा—"मुनि-कुमार ! मैं वे दोनों दिव्य कुण्डल आपको भेंट करने में तनिक भी संकोच नहीं करूंगी। गुरु-दक्षिणा के लिए प्रयत्नशील ब्रह्मचारी की अभिलाषा पूर्ण करना तो हमारा परम कर्तव्य है। पर इस सम्बन्ध में राजा की आज्ञा लेना आपको अनिवार्य है। यही सोच कर मैं दुःखी हुई हूँ। आप जानते ही

हैं। राजा इस समय शापवश राक्षस हो गए हैं। दिन के छठे प्रहर में उनके भोजन का विधान है और वह अनिष्टकारी प्रहर सन्निकट ही है।......"

"मुझे इसका भय नहीं है, देवि मदयन्ती जी ! मैंने अपने मन में अहिंसा का संयम किया है। अतः राजा मेरा भक्षण न कर सकेंगे।......" उत्तंक ने बड़े विश्वास के साथ उत्तर दिया।

"परंतु ! मुनि-कुमार ! आपकी बात पर मुझे पूर्ण विश्वास नहीं हो पाता। वह देखिये"—रानी ने दूर पश्चिम दिशा की ओर एक पोखर के निकट पड़ी चिता भस्म की ओर संकेत करते हुए कहा—"वह एक ब्राह्मण-कुमार की ही चिता है। वह अभागा तपस्वी ब्राह्मण दिन के छठे प्रहर में अनजाने उधर पहुँच गया था। उसके साथ ही उसकी जीवनसंगिनी थी। हे सुव्रत उत्तंक जी ! उस अभागिनी के देखते-देखते ही राजा ने उस ब्राह्मण-कुमार को ऐसे ही पकड़ लिया जैसे मृग-छौने को कोई व्याघ्र पकड़ लेता है—" रानी मदयन्ती की आँखों में अश्रु छलछला आए। आगे वे बोलीं—"राजा ने जैसे ही उस ब्राह्मण की गर्दन पकड़ी, उसकी पतिव्रता राजा के चरणों में झुक गई और रो कर बोली—'सूर्यवंश यशोधर राजन् ! आप राक्षस नहीं हैं, आप तो अयोध्या के राजा सौदास हैं। आप मेरे पति का भक्षण न करें। आप क्षुधाशांत करना ही चाहते हैं, तो मुझे खाएँ। पर, मेरे पति का भक्षण कर आप मेरा अहिवात नष्ट न करें।' उत्तंक जी, राजा को कभी-कभी राक्षस भाव में भी विवेक बना रहता है। पर उस समय न जाने

क्या हुआ वे कहने लगे—'ब्राह्मणी ! स्त्री-हत्या करके मैं अपने को पापाग्नि में भस्म नहीं कर सकता। इस समय दिन का छठा प्रहर है। भाग्यवश मुझे जो आहार प्राप्त हो गया है, उसे नहीं छोड़ सकता। हाथ में आये हुए अवसर का लाभ उठाने से जो चूकता है, उसे पश्चात्ताप से जलना पड़ता है। अतः तू व्यर्थ मेरी क्षुधा-तृप्ति में बाधा न बन।'—राजा के ऐसे कहने पर उस पति-परायणा का विलाप करुण हो गया और उसने गिड़गिड़ा कर कहा—'राजन् ! आप इन महात्मा ब्राह्मण के प्राणों की रक्षा करके जगत की ही रक्षा करने का पुण्य सहज में प्राप्त कर लेंगे।'

"पर उत्तंक जी ! उस सती की किसी भी प्रार्थना का राजा पर कोई प्रभाव न हुआ। भयंकर चीत्कार के साथ उन्होंने एक सधवा के सामने ही उसके पति का विध्वंस कर दिया"—रानी मदयन्ती के भी, यह घटना सुनाते-सुनाते अश्रु-प्रवाह हो आया। वह अवरुद्ध कंठ से कहती रहीं—"राजा ने राक्षस भाव को प्राप्त होकर उस मनुष्य को खा डाला। ओह ! कैसा घृणित पाप उनसे बन गया।" रानी के दुःख से संतप्त मुनि उत्तंक ग्रीवा झुकाये सुनते रहे—उस सधवा ने आकर मुझे सारा वृत्तान्त सुनाया और विवश हो धैर्यपूर्वक अपने पति की अस्थियों का चयन किया। वन से काष्ठ एकत्र कर उसने वहीं चिता बना ली। अपने सतीत्व की शक्ति से ही उसने वहीं अग्नि प्रकट कर दी और पहले से शापग्रस्त राजा को यों शाप दे दिया—'राजन्, तुमने मुझे अकारण ही वैधव्य का कष्ट भोगने के लिए बाध्य किया है। मैं तो सती

हो रही हूँ, पर, तुम राक्षस भाव समाप्त कर जब अपनी स्त्री का स्पर्श करोगे, तभी उसके स्पर्श मात्र से तुम भस्म हो जाओगे।''[१]

इतना कहकर रानी मदयन्ती भयंकर विलाप करने लगीं। उत्तंक जी ने उनको धैर्य बंधाते हुए कहा—"रानी! इसमें शोकग्रस्त होने की आवश्यकता नहीं। कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म और बलवान् होती है। हर एक कष्ट में तप की भावना कर ली जाये तो उसके भोगने में भी आनन्द होता है, एवं उसका फल भी तप के फल में परिवर्तित हो जाता है। आप इस विषय में चिंतित न हों। मुझे आपके पति सौदासजी से कोई भय नहीं होगा। मेरे पास समय का अत्यन्त अभाव है। निश्चित अवधि में ही मैं कुण्डल लेकर लौटने के

---

१. वशिष्ठ जी के शाप की कथा 'श्रीमद्भागवत' और 'स्कन्दपुराण' में आती है। बारह वर्ष पश्चात् शाप निवृत्ति होने पर जब सौदास अयोध्या लौट आये तो रानी मदयन्ती विधवा ब्राह्मणी के शाप को जानती हुई उनके समीप नहीं गई। मित्रसह निःसन्तान रह गए। अपने आप ग्लानि खाकर वे गौतम जी के पास अपने कल्याण का मार्ग पूछने गए। उनके परामर्श अनुसार उन्होंने गोकर्ण क्षेत्र में जाकर शिवरात्रि के दिन शिवजी की पूजा कर उन्हें प्रसन्न करके परमपद पा लिया।

रानी मदयन्ती के गुरु वशिष्ठ जी ने मंत्रों द्वारा गर्भाधान कराया। पर सात वर्ष तक भी कोई सन्तान नहीं हुई और वे गर्भ धारण किये रहीं। तब वशिष्ठ जी ने अश्म (पत्थर) मारकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार रानी मदयन्ती ने जिस पुत्र को जन्म दिया उसका नाम 'अश्मक' पड़ा। उसी से सूर्य वंश आगे चला।

लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हूँ। अतः इसी समय मुझे राजा के समीप जाना होगा।"

"भगवान् की इच्छा के आगे किसका बस चलता है, उत्तंक जी। जिस प्रकार आपने गुरु की आज्ञा लेकर ही अब तक सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया है, उसी प्रकार इन कुण्डलों के विषय में मैं भी अनिवार्यतः राजन् की आज्ञा के ही वश हूँ। अन्यथा, आपको कुण्डल तुरंत दे देती।"

"आप निश्चित रहे। मैं सौदास जी की आज्ञा ले आऊँगा। आप तब तक राज-प्रासाद लौटकर उन्हें अपने कोष से निकलवा लेने की व्यवस्था करें।"

उत्तंक जी तभी मदयन्ती को प्रणाम कर जब चलने लगे तो रानी मदयन्ती ने वेदना के स्वर में कहा—"इस समय वह दक्षिण-पश्चिम में मधुरा नामक झरने के समीप ही कहीं मिल सकेंगे।"

अहिंसा की दृढ़ स्थिति को प्राप्त मुनि उत्तंक ने मधुरा निर्झर के समीप जाते-जाते, 'मैत्र्यादिषु बलानि'—के अनुसार राजा सौदास में मित्रता की भावना कर ली और किसी भी प्रकार के भय की वृत्ति से मुक्ति पा ली। जैसे ही वह राजा सौदास के सामने आये राजा ने उनकी ओर प्रसन्नता से देखा और दौड़कर उन्हें दोनों हाथों से पकड़ लिया। तत्पश्चात् राजा सौदास बोले—"मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आप दिन के छठे प्रहर में यहाँ आये हो—" सौदास उस समय वैसे ही भयंकर रूप में थे, जैसे नरकगामियों को यमराज दिखाई देते हैं। पर उत्तंकजी को किंचित भी भय नहीं हुआ। वे बोले—"सौदास जी !

ईश्वर आपका कल्याण करे। मैं स्वयं आपके लिए भक्ष्य रूप में उपस्थित हूँ। पर आपके सर्वथा आधीन होने के पूर्व मैं आपसे कुछ याचना करना चाहता हूँ।"

"कहो, द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके समर्पण भाव से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आप अपना परिचय दीजिए एवं अपनी मनोकामना प्रकट कीजिये।"

"महाभाग ! मैं मुनि गौतम का शिष्य उत्तंक हूँ।"

"उत्तंक !" राक्षस भाव को प्राप्त हुए सौदास ने अपनी स्मरण शक्ति पर बल देते हुए कहा।

"हाँ, राजन् ! मैं इस समय गुरु-दक्षिणा जुटाने के लिए उद्योगशील हूँ। और घूमता-घूमता आपके पास आया हूँ। मेरी गुरु-दक्षिणा आपके ही आधीन है इस अभिप्राय से आने वाले ब्राह्मण की हिंसा करना शास्त्र विरुद्ध है..."

"देखो उत्तंक ! तुम्हारी गुरु-दक्षिणा की व्यवस्था हो जायगी। तुम मेरा सन्देश रानी के पास ले जाना। पर यह नहीं हो सकता कि मैं प्राप्त भक्ष्य को छोड़ दूँ। इस समय शास्त्र धर्म की बात मुझसे मत कहो।"

"ठीक है राजन् ! पर मैं आपको वचन देता हूँ कि गुरु-दक्षिणा चुका कर आपके सम्मुख उपस्थित हो जाऊँगा। नरेश्वर ! आप कृपा कर मेरी गुरुदक्षिणा दिला दें। आप अनेक रत्नों का दान करते रहे हैं। आप दानी के रूप में विख्यात हैं और मैं प्रतिग्रह का अधिकारी हूँ। गुरु की दक्षिणा गुरु को प्रदान कर मैं आपके आधीन हो जाऊँगा। आप मेरा विश्वास करें। मैं सत्य ही कह रहा हूँ। मैंने कभी पहले परिहास में भी

असत्य नहीं बोला है। अतः इस अवसर पर तो असत्य बोल ही कैसे सकता हूँ ?"

तब उत्तंक से सौदास ने प्रश्न किया—"कहिये ! आप कितना धन चाहते हैं जिससे आपके गुरु सन्तुष्ट हो सकें ? यदि मेरे आधीन ही आपकी गुरु-दक्षिणा है तो आप उसे मिला ही समझिये।"

"महाराज ! मुझे धन नहीं चाहिये।"

"तो क्या तुम अपने गुरु को रजकणों से सन्तुष्ट करना चाहते हो !"

"नहीं महाराज ! मुझे आपकी रानी मदयन्ती के वे दोनों दिव्य मणिमय कुण्डल चाहिएँ, जिन्हें धारण कर रानी इन्द्राणी-सी शोभा पाती हैं।"

"उत्तंक ! तुम मेरा सर्वस्व ले सकते हो, पर वे कुण्डल मैं कैसे दे सकूँगा। मुनिकुमार, वे कुण्डल सर्वथा मेरी सहधर्मिणी के ही योग्य हैं। अतः तुम कुछ और मांग लो।"

"राजन् ! गुरु-दक्षिणा के लिए आये हुए ब्राह्मण-कुमार को निराश लौटाना आपकी मर्यादा के प्रतिकूल है। आपके वंश में रघु नाम के राजा ने जिस प्रकार कौत्स को नहीं लौटाया था, उसी प्रकार आप भी मुझे न लौटाएँ।"

"उत्तंक मुनि, मैं नहीं जानता कि रघु ने कौत्स के साथ क्या व्यवहार किया। पर तुम्हें दिव्य कुण्डल नहीं दे सकूँगा।"

"राजन् ! सुनिये तो, आप को कुल के बड़ों के समान ही आचरण करना चाहिये। रघु बड़े प्रतापी राजा थे, आप जानते ही हैं। एक बार उन्होंने विश्वजित यज्ञ किया था। उनके

प्रासाद में मृत्तिका के ही बर्तन शेष थे। ऐसे समय में ही उनके यहाँ ऋषि वरतन्तु के एक शिष्य कौत्स आ गए। रघु ने उन्हें कुशा का आसन दिया और स्वागत करते हुए पूछा—'आपके वे गुरु कुशल तो हैं, जिन्होंने आपको ज्ञान-ज्योति देकर जगाया है? आपके आश्रम के वृक्ष तो आँधी से नहीं गिरे जिन्हें आपने जतन से पुत्र के समान पाला है?'—राजन्! इसी प्रकार राजा रघु ने आश्रम के हरिणों तक का कुशल-समाचार पूछा और कहा—'कहिये, ब्रह्मचारी जी! आप किस उद्देश्य से पधारे हैं?'

''कौत्स ने देख लिया था कि रघु चक्रवर्ती राजा होते हुए भी इस समय विश्वजित यज्ञ सम्पन्न करने के कारण धनहीन हैं। उनके पास "राजा" शब्द को छोड़कर कुछ भी नहीं बचा है, अतः गुरु-दक्षिणा कैसे दे सकेंगे! इसी भाव से उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'राजन्! विद्या पढ़ चुकने पर जब मैंने गुरु जी से कहा कि आप मुझ से गुरु-दक्षिणा मांगिये तो उन्होंने कहा—'मैं तेरी गुरु-भक्ति से सन्तुष्ट हूं। तू स्वतंत्र होकर जा सकता है।' पर जब मैंने बार-बार हठ किया तो गुरु जी ने क्रोधाभिभूत होकर कहा—'मैंने तुझे चौदह विद्याएं पढ़ाई हैं, इसलिए चौदह करोड़ मुद्राएं लाकर दे।'—सुनाते-सुनाते उत्तंक जी को अपना भी अहिल्या जी से हठ करना स्मरण हो आया।

सौदास ने कहा—"तब विश्वजित यज्ञ से निर्धन हुए रघु ने चौदह करोड़ मुद्राएँ किस प्रकार दीं!"

"राजन्! कौत्स तो निराश होकर लौट रहे थे, पर रघु वर्ण और आश्रम की रक्षा करने वाले राजा थे। उन्होंने

कौत्स से कहा—आप हमारी यज्ञशाला में चलिये। वहाँ गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय अग्नियां स्थापित हैं। इन तीन पूजनीय अग्नियों के साथ-साथ ही आप चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो-चार दिन वहाँ ठहरिये। मैं आपकी दक्षिणा का प्रबन्ध करूंगा।—राजन्! कौत्स को ठहराकर रघु ने संकल्प किया कि प्रातः ही कुबेर पर चढ़ाई करूंगा और वहां से धन लाकर कौत्स को दूंगा, चाहे प्राणों को ही उत्क्रमण क्यों न करना पड़े, बस ऐसा प्रण करके राजा सो गया। पर, सौदासजी, प्रातःकाल से पूर्व ही चतुर सेवकों ने उन्हें हर्ष से आ जगाया और सूचना दी—'महाराज, रात्रि में कोष में बहुत समय तक स्वर्ण वर्षा होती रही है।' वह स्वर्ण सुमेरु पर्वत के किसी खण्ड की भांति ही दमक रहा था। कुबेर ने प्रसन्न होकर स्वर्ण वृष्टि कर दी थी। राजन्! कौत्स ने तब राजा रघु से कहा—'महाराज, धर्मात्मा राजाओं को पृथ्वी उनकी इच्छानुसार ही धन दे तो क्या आश्चर्य? कौत्स ने उन्हें आशीर्वाद दिया और राजा रघु से वह समस्त अमित धन लेकर अपने गुरु को सन्तुष्ट करने चला गया। राजन्! आप भी रघु के ही वंशज हैं। आप भी धर्मात्मा हैं। कृपा कर मुझे दिव्य कुण्डल प्रदान कर अपनी कीर्ति बढ़ाएँ।"

उत्तंक की इस युक्ति का राजा सौदास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। वे मैत्री भाव दिखाते हुए बोले—"उत्तंक! आप रानी के पास जाइये। वह उत्तम व्रत को धारण करने वाली हैं। उन्हें मेरी आज्ञा सुनाकर आप कुण्डल प्राप्त कर लीजिए। और अपने गुरु को सन्तुष्ट कीजिये। उत्तंक जी, दिन का छठा प्रहर

होने से मैं उनके पास नहीं जा सकता। वे मेरी आज्ञा मानकर आपको अवश्य कुण्डल दे देंगी। इसमें संशय नहीं।"

उत्तंक राजा की आज्ञानुसार रानी मदयन्ती के पास राजप्रासाद में लौट आये। रानी ने उनसे सौदास से हुई भेंट का वृत्तान्त धैर्यपूर्वक सुना, पर उन्हें इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि उत्तंक जीवित कैसे लौट आये। सोच-विचारकर रानी मदयन्ती बोली—"सुव्रत उत्तंक जी, आप सदा सत्य में प्रतिष्ठित हैं। आप इन कुण्डलों को ले जाने में समर्थ हैं। पर यह कुण्डल दिव्य हैं। इन्हें चुराने के लिए देवता, नाग, यक्ष सदा तत्पर रहते हैं। पृथ्वी पर रखने से इन्हें नाग ले जाते हैं। अपवित्र अवस्था में धारण करने से यक्ष हड़प लेंगे और निद्रावश होने पर देवता बलात् छीन ले जायेंगे। ये स्वर्ण नूपुर बरसाते हैं, आपको विदित ही है। ये कुण्डल अपनी दिव्यता के कारण तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं। अतः आप महाराज की आज्ञा ले ही आये हैं, इसका कोई प्रमाण भी तो लाइये।"

उत्तंक उस क्षण तो ऐसे ही निराश हो गए जैसे नदी को पार करने वाले एकाकी यात्री की नौका तट के समीप पहुँचते-पहुँचते ध्वस्त हो गई हो। उत्तंक जी पुनः राजा सौदास के पास लौट आये और उनमें मैत्री भावना जाग्रत करते हुए कहने लगे, "महाराज! रानी कुण्डल भेंट देने के लिए उत्सुक हैं। पर नृपश्रेष्ठ! वह आपकी आज्ञा की सत्यता के सम्बन्ध में कोई प्रमाण चाहती हैं।"

नरेश्वर सौदास जी को उत्तंक जी ने अब "मित्रसह" नाम से भी सम्बोधित करते हुए कहा—"मित्रसह महाराज!

आप इस समय कोई उत्तम सन्देश ही प्रमाण रूप में मुझे दें। मैं वही आपको धर्मज्ञ रानी को सुनाऊँगा।"

मित्रसह बोले—"रानी से कहिये—प्रिया, मैं जिस दुर्गति में पड़ा हूँ वह मेरे लिए कल्याणप्रद नहीं है। परन्तु, इसके सिवा अब अन्य गति भी क्या है ? मेरे इस विचार को जानकर तुम अपने दोनों दिव्य कुण्डल गौतम-शिष्य उत्तंक को भेंट कर दो।"

उत्तंक हर्षित हुए पुनः मदयन्ती के समीप आये। पर, राजा के सन्देश में उन्हें कोई गूढ़ बात दृष्टिगत नहीं हुई। तथापि रानी से कुण्डल प्राप्त करने के उद्देश्य से जब उन्होंने राजा की बात दुहराई तो रानी ने उन्हें तुरंत अपनी भव्य एवं बहुमूल्य अलंकार मंजूषा से दिन में दमकने वाले दिव्य मणिमय कुण्डल दे दिए। उत्तंक उन्हें प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हुए। पर वे राजा सौदास से उसके सन्देश का गूढ़ अर्थ जानने की इच्छा से मधुरा निर्झर के पास फिर आये।

सविनय राजा से वे बोले—"राजन् ! आपकी कृपा से मैंने मणिमय कुण्डल पा लिए। पर, आपके गूढ़ सन्देश का क्या अभिप्राय था, यही जानने की जिज्ञासा लेकर मैं पुनः आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ।"

उत्तंक की विनम्रता से प्रसन्न हुए राजा ने कहा—"ब्राह्मण देव ! सृष्टि के आरंभ से ही क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों की पूजा करते आये हैं। फिर भी ब्राह्मणों की ओर से भी कभी-कभी दोष प्रकट हो जाते हैं। एक ब्राह्मण के शापवश ही मेरी यह दुर्गति हुई है। इस दुर्दशा को प्राप्त होने के पश्चात् मुझे

यहाँ और परलोक में सुख प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं सूझता। इसीलिए मैंने कहा था—'इसके सिवा अब और कोई गति नहीं है।' विप्रवर ! उत्तंक, ब्राह्मणों का अपकार करके कोई व्यक्ति न तो इस लोक में सुख पा सकता है, न परलोक में। मेरे सन्देश का यही तात्पर्य था।—उत्तंक जो आपने अपनी इच्छानुसार मणिमय कुण्डल प्राप्त कर लिए हैं। अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कीजिये।"

"राजन् ! आप जो कह रहे हैं, वह ठीक है। कृपा कर पहले मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। वस्तुतः उसका समाधान कराने के अभिप्राय से ही मैं यहाँ पुनः उपस्थित हुआ हूँ।"

"मुनिश्रेष्ठ ! प्रश्न कीजिये, मैं आपके सन्देह का निवारण करने की चेष्टा करूँगा।"

मुनि उत्तंक की विनम्रता से और वशिष्ठ जी के शाप के विधानानुसार इस समय मित्रसह में कुछ विवेक जाग गया था। उत्तंक जी ने कहा—"महाराज ! धर्मज्ञ विद्वानों ने उसे ही ब्राह्मण कहा है जो वाणी का संयम करता हो और सत्यवादी हो पर जो मित्रों के साथ विषमता का व्यवहार करता है, वह तो चोर माना गया है। आप आज मेरे मित्र हो गए हैं। अतः आप मुझे उचित परामर्श दीजिये। मेरा मनोरथ सफल हो गया और आप नरभक्षी राक्षस बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में गुरु-पत्नी को कुण्डल भेंट करने के पश्चात् क्या मुझे यहाँ आना चाहिये ?"

राजा सौदास इस प्रश्न को सुनकर मानो किंकर्तव्यविमूढ़ से रह गए। पर जाग्रत विवेकवश उन्होंने सत्य ही कहा—

"आप उचित परामर्श चाहते हैं, इसलिए मैं यही कहूँगा कि आप मेरे पास कदापि न लौटें। हे भृगुवंश-भूषण ! आप आयेंगे तो आपकी मृत्यु हो जायगी। इसमें तनिक भी संशय न समझें। अतः विप्रवर, आप मेरे पास कदापि न लौटें।"

यह सुनकर मुनि उत्तंक बहुत सन्तुष्ट एवं प्रसन्न हुए। उन्होंने काले मृगचर्म में बंधे हुए दिव्य कुण्डलों को अपने कंधे पर डाल लिया और सौदास की आज्ञा से पुनः मिथिला की ओर प्रयाण किया।

अब तक उन्होंने कण्ठ-कूप में चित्त का संयम कर क्षुधा-पिपासा को जीत रखा था। पर अब पर्याप्त समय रहते अपने अभीष्ट की सिद्धि से उन्हें इतना हर्ष हुआ कि वे क्षुधा-निवृत्ति का उपाय सोचने लगे। सूक्ष्म शरीर धारण कर आकाश मार्ग से आते-आते वे अपने उस चिर-परिचित वन में तनिक विश्राम करने रुक गए जहाँ से वे प्रायः काष्ठ संचय कर आश्रम में लाया करते थे। वहाँ से आश्रम का मार्ग दो ही घड़ी का था।

शीतल छायादार वृक्षों के नीचे बैठते ही उन्हें थकान से निद्रा आने लगी। पर वे तुरंत सावधान होकर समीपवर्ती जलाशय पर गए और मुख-हस्त प्रक्षालन के पश्चात् उसके स्वच्छ जल से अपनी पिपासा शांत करने लगे। निद्रा को जीतने में वे सफल हो गए। पर उनकी क्षुधा-पीड़ा में वृद्धि हो गई। अतः उन्होंने वहाँ किसी फल वाले वृक्ष की खोज आरंभ कर दी। सहसा उन्हें स्मरण हो आया, जलाशय से दक्षिण लगभग पचास पग पर ही बेल फल का उत्तम वृक्ष है, जिस पर से उन्होंने बहुत बार पके-पके स्वादिष्ट मधुर बेल तोड़ कर

खाये हैं। अतः वे उस ओर ही चल पड़े। बार-बार उनका हाथ उत्तरीय की भाँति कंधे से बँधे हुए काले मृगचर्म पर चला जाता जिसमें वे दिव्य कुण्डल बंधे थे। सश्रद्धा गुरु-पत्नी को गुरु-दक्षिणा स्वरूप उन कुण्डलों को भेंट कर चारों पदार्थों को सुलभ करने की लालसा मन में लिए वे शीघ्रता से उस बेल-वृक्ष पर चढ़ गए। वे सोचने लगे कुछ बेलों का भक्षण कर क्षुधा शांत हो जाय तो आश्रम की ओर यात्रा में संलग्न हो जाऊँगा। इसी भाव से उन्होंने अपने को और भी आश्वस्त करने के लिए वह मृगचर्म वृक्ष की एक शाखा से बांध दिया; क्योंकि वे जानते थे कि कुण्डलों को पृथ्वी पर रखना उन्हें नागों के मुँह में डालने के ही समान है। द्वितीयतः वे अपने पीछे एक क्षपणक चांडाल आते देखकर भी सशंकित हो उठे थे, क्योंकि वह कभी प्रकट हो जाता था और कभी अदृश्य हो जाता था।

ऐसा करने के पश्चात् वे ब्राह्मण-कुमार वृक्ष की एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाने लगे और जहाँ-जहाँ उन्हें पके हुए भीनी सुगन्ध से युक्त बेल फल दिखाई देते, वे उन्हें तोड़ कर भूमि पर डालने लगे। उद्देश्यपूर्ति से वह इतने उन्मत्त से हो गए थे कि भूमि पर देखना तो दूर, वे यह ध्यान भी नहीं रख पाये कि कितने बेल-फल तोड़े जा चुके हैं और वे मेरी क्षुधा-पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं अथवा नहीं। उनकी इसी असावधानी का भयंकर परिणाम हुआ। पहले दो-तीन फल भूमि पर गिरते हुए मृगचर्म के बंधन को शिथिल करने में सहायक हुए। मृगचर्म एक ही ओर से बंधा शाखा से झूलता

रह गया, और उसका दूसरा छोर भूमि की ओर किसी मृत पक्षी के खुले डैनों की भाँति लटक गया। उसमें से वे दिव्य-कुण्डल भूमि पर गिरे तो झनझनाहट का शब्द हुआ। पर उत्तंक जी ने यही समझा कि बेल गिरने से जीर्ण-शीर्ण पात चरमर कर उठे हैं। समय बीतने पर वे बेल खाने के अभिप्राय से नीचे उतरने लगे तो उनकी मृगचर्म पर दृष्टि गई। उसके बंधन शिथिल देखकर उनके हाथों में से शाखाओं के बंधन भी शिथिल हो गए और वे उस मृगचर्म वाली शाखा पर गिरते हुए भूमि पर आ रहे। उनके हाथ में कुण्डल विहीन मृगचर्म भी जकड़ा आ गया। भूमि पर आते-आते वे स्वेदकणों से नहा उठे। अपनी चोट भूलकर वे इधर-उधर उस मृगी की नाईं देखने लगे, जो वन में अग्नि लग जाने पर भयभीत हो त्राण का मार्ग देखने लगती है। पश्चात्ताप के स्वर में उन्होंने कहा—"हाय! मैंने अपने प्रमाद से ही अपना नाश कर लिया। रसनेन्द्रिय के वश होकर जैसे मछली प्राण खो बैठती है, उसी प्रकार मैं भी रसना के वशीभूत होकर ही प्राणों से भी मूल्यवान् कुण्डल खो बैठा! हाय! मैं गुरु जी को क्या मुँह दिखाऊँगा। निश्चय ही मेरे लिए यह प्राणहारी कृत्य क्षपणकवेशधारी तक्षक ने ही किया है। मैं उस अधम का नाश कर डालूँगा।—" विलाप के बीच से यों मुनि उत्तंक के हृदय में पुरुषार्थ को नव उत्साह देने वाले धैर्य का विकास होने लगा।



मधुपुष्पा की व्यथा

उधर उत्तंक जी के पर्णशाला से बाहर आते ही मधुपुष्पा विचलित हो उठी थी। वह समझती थी कि सौदास शापवश नरभक्षी राक्षस भाव को प्राप्त हो गए हैं और उनकी अनुमति प्राप्त किये बिना मुनि उत्तंक दिव्य कुण्डल प्राप्त नहीं कर सकेंगे। पर, अपने मन की व्यथा वह कहती किससे ! माता अहिल्या से उसी समय कुछ कहना अपने मन के चोर को बाहर उपस्थित कर देने के समान ही होता। वह सोचने लगी—कुछ समय पश्चात् जब पिता मुनिवर गौतम जी, भोजन के लिए पधारेंगे, तभी उनसे किसी प्रकार परोक्ष रूप से ही कहूँगी।

मुनि उत्तंक के तपोबल पर उसे विश्वास था। उसकी उसे स्वयं अनुभूति हो चुकी थी। यही विचार करते-करते उसकी कल्पना में गहन वन आ गया। उसमें उसने भूख-प्यास से व्याकुल राजा सौदास को हिंस्र व्याघ्र की नाईं आहार की खोज में इधर-उधर घूमते देखा। तभी उनके समक्ष अपने शारीरिक गठन और सुन्दरता से तरुणों को भी लजाने वाले मुनि उत्तंक मणिमय कुण्डलों की याचना करने उपस्थित हो गए। पर हाय, राजा सौदास ने समस्त धर्म-मर्यादाओं का उल्लंघन कर उन मुनि-कुमार की गरदन मरोड़ डाली। मधु-पुष्पा सिहर उठी। उसकी कल्पना उसे ही भय देने वाली सिद्ध हुई। वह जड़वत् निश्चेष्ट बैठी रह गई। आश्रम में मुनि उत्तंक के वर्षों के सहवास के पश्चात् भी उसका मन विकार-ग्रस्त न हुआ था। पर जिस दिन उसने पिता की आज्ञा स्वीकार कर करुण विलाप करने वाले उस तपस्वी के अश्रुओं को धारण कर हाथों के झुलस जाने में भी आनन्द अनुभव किया था, उसी दिन से उसके हृदय और मस्तिष्क में एक आलोड़न होने लगा था, मानो किसी शांत सरिणी में सहसा कोई वन-निर्झर प्रचण्ड वेग से समाहित होने के लिए आ गिरा हो। उसके मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के नाना विवर्त बनते गये, मिटते गये। उसकी नारी-सुलभ कल्पनाओं में उत्तंक तपोबल से युवक हुए सौभरि ऋषि की भाँति ही युवक हो गये थे। और उसका पाणिग्रहण करके गौतम मुनि को मानो कृतार्थ कर रहे थे।

कुमारहारित के मन में उसी दिन से ईर्ष्या का भाव उदय

हो गया था, जिस दिन कई वर्षों पूर्व मधुपुष्पा द्वारा उत्तंक की परीक्षा का समाचार सुनकर गौतम जी ने शतानन्द को तपस्या की आज्ञा दी थी। उसने भी सभी आश्रमवासियों से यह कह कर कि 'अपने तक ही सीमित रखो तो एक गुप्त समाचार सुनाऊँ' —गौतम जी के उन उद्‌गारों का प्रचार किया था जो उन्होंने उत्तंक पर व्यक्त किये थे। उस दिन जब उत्तंक गौतम जी के पास गुरु-दक्षिणा लेने का आग्रह ही कर रहे थे हारित एकान्त पाकर मधुपुष्पा से कहने आया था :

"देवि ! मधुपुष्पा। तुझे एक हर्षपूर्ण समाचार सुनाने आया हूँ।"

"क्या है ? क्या आज फिर तुम्हारे मन में कोई पाप उदय हुआ है ?"

"तुम तो बात सुनने से पहले ही परिणाम की खोज करने लगती हो। पाप क्या इस आश्रम में रहते किसी के हृदय में उदय हो सकता है ?"

"फिर जल्दी कहो, जो कहना चाहते हो।" किंचित उपेक्षा से मधुपुष्पा ने कहा।

"आज गुरुवर गौतम जी ने तुम्हारे पाणिग्रहण का निश्चय व्यक्त कर दिया है। आश्रम के सर्वश्रेष्ठ तपस्वी मुनि तुम्हारे लिए युवक हो जायेंगे। तुम श्रेष्ठ उत्तंक की……"

"हारित ! मौन रहो। मुझ से ऐसी बातें करते हुए तुम्हें लाज नहीं आती ?" कहने को सरोष स्वर में मधुपुष्पा ने इतना कहा तो, परन्तु दामिनी की क्षणिक दमक की भाँति उसके नेत्रों में उत्तंक का वह चुपचाप देखना स्पष्ट होकर झाँकने लगा, जो

अहिल्या जी से गुरु-दक्षिणा लेने की प्रार्थना के समय उनसे बन पड़ा था।

"मैं तो मौन ही हूँ, देवि !" निर्लज्जता से हारित कहता गया—"पर गृहस्थाश्रम के लिए विलाप करने वाले उत्तंक जी से उन्होंने यही कहा था कि यदि तुम अपने तपोबल से तरुणाई प्राप्त कर लो तो मैं तुम्हें मधुपुष्पा का पाणिग्रहण करने की अनुमति दे दूंगा।"

चोट से विक्षत सर्प की नाईं हारित लौट गया था। पर मधुपुष्पा के मनोराज्य को वह निर्माण का सुअवसर देता गया। और कुछ समय पश्चात् ही उत्तंक जब वहां आकर मधुपुष्पा की उपस्थिति में ही आग्रह करने लगे तो मधुपुष्पा ने उन्हें नेत्र झुकाये हुए ही जी भर कर देखा। उसकी दृष्टि में श्वेत केश और दाढ़ी वाले ऋषि उत्तंक की जगह एक स्वस्थ, परम तेजस्वी ब्राह्मण कुमार आ गया, जिसकी नुकीली नासिका, उन्नत भाल, और ज्योति रश्मियाँ फैलाने वाले नेत्र, सभी उसके अद्भुत तपस्वो होने का परिचय देते थे। उसके अरुण ओष्ठ नव विकसित कमल दल के समान ओज भरे लगते थे। पीत वस्त्रों से सुसज्जित वह उस नृपकिशोर की भाँति ही आकर्षित करते थे, जो राजसी वैभव से सम्पन्न हो किसी स्वयंवर में भाग लेने जाता है। उत्तंक के सामने बैठे-बैठे ही मधुपुष्पा को एक और घटना का स्मरण हो आया था।

वह उस दिन वट-पूजन के उपलक्ष्य में तपोवन के उद्यान में नाना प्रकार के पुष्प संचित करने गई थी। उन दिनों सरोवर के समीप कई आश्रमवासी ब्रह्मचारियों की पर्णशालाएँ

थीं। वहीं चान्द्रायण व्रत का पालन करते हुए कुमारहारित भी उन दिनों एक कुटिया में वास करते थे। पुष्प-चयन के पूर्व मधुपुष्पा ने, जो अकेली ही स्वतंत्र हरिण-किशोरी की भाँति वहाँ विचर रही थी, सरोवर के स्वच्छन्द शीतल जल में स्नान किया। तत्पश्चात् उस सद्य-स्नाता ने कमल-कुंज से नील, श्वेत और अरुण पद्म लेकर शृंगार किया। जब वह शृंगार ही कर रही थी कि कुमारहारित सहसा अपनी कुटिया से निकल आया। वह अपनी दोनों भुजाओं में अरुण कमल बाँधे हुए बड़ा विचित्र लग रहा था। उसके चपल नेत्रों में उन्माद हँस रहा था। मधुपुष्पा के निकट आकर वह बोला—"देवि! आज तो तुम्हारा शृंगार स्वर्गोपम बन पड़ा है। तुम्हारे शरीर से आने वाली चम्पा की सी गन्ध ही मुझे पर्णशाला से यहाँ तक ले आई है।"

मधुपुष्पा तब तक कुमारहारित की तपस्या के कारण उसके प्रति भी हृदय में श्रद्धा का भाव रखतो थी। पर, जिस प्रकार आकस्मिक ढंग से समीप आकर उसने एक अप्रत्याशित बात कह डाली थी, उससे मधुपुष्पा चकित रह गई। उसके नेत्र झुक गए और किनारे के कमल-दल तोड़ने के कारण उसने जो अपनी धोती घुटनों तक उठाई थी, वह नीचे डाल दी। एड़ी तक पानी में खड़ी मधुपुष्पा वहीं की वहीं ठिठको खड़ी रह गई।

कुमारहारित उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही सरोवर के तट पर बैठ गया और अपने चरणों से सरोवर का शाँत जल तनिक उद्वेलित करता हुआ बोला—"आज तुम्हें

इतनी सौन्दर्यमयी देखकर मुझे उस दिन की कल्पना करने के लिए विवश होना पड़ा है, जब विधाता ने ऋषि-पत्नी अहिल्या जी को पूज्य गौतम ऋषि को भेंट किया था। देवि, मधुपुष्पा! तुम्हें वह अत्यन्त रोचक प्रसंग मुझ से सुन लेना चाहिये। उस समय सृष्टि में विधाता ने जितनी भी सुन्दर वस्तुएँ बनाई थीं, उन सबका थोड़ा-थोड़ा सौन्दर्य लेकर ही उन्होंने अहिल्या जी का निर्माण किया था। तत्पश्चात् उन्होंने बहुत सोच-विचार कर अहिल्या जी को परम जितेन्द्रिय ऋषि गौतम जी के पास धरोहर के रूप में रख दिया……!"

मधुपुष्पा अब तक नतग्रीवा जल में ही ठिठकी खड़ी थी। इस बात की चिन्ता हारित ने नहीं की कि वह उसकी चेष्टा को किस दृष्टि से देख रही है, तथापि वह कहता रहा—"यहाँ बैठो, मधुपुष्पा, मेरे पास। मैं आज तुम्हें और भी कुछ सुनाने की अभिलाषा रखता हूँ—हाँ, तो एक वर्ष तक ब्रह्मा जी की धरोहर को मुनि गौतम ने पूरे धैर्य के साथ अपने आश्रम में रखा। विधाता ने वस्तुतः अहिल्या जी के योग्य ही समझ कर गौतम जी को यह धरोहर सौंपी थी, पर जब गौतम जी के मन में कोई विकार न आया, तो विधाता ने इन्हें प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया और उनको सदैव के लिए परस्पर प्रणय-सूत्र में बांध दिया।—" इतना सुनकर मधुपुष्पा का मन अपने माता-पिता के गौरव का स्मरण कर, श्रेष्ठता के अभिमान से भर उठा; पर, वह यह नहीं समझी कि हारित यह सब किस लिए कह रहा है। तभी कुमारहारित ने अपने मन का भाव यों प्रकट कर दिया—"मधुपुष्पा! ऐसी परम सुन्दरी अहिल्या जी का सौन्दर्य लेकर

तुम पृथ्वी पर, जानती हो, किसके लिए आई हो ? कुमारहारित के लिए !" हारित ने जितने कोमल स्वर से कहा उतने ही प्रचण्ड दाह से मधुपुष्पा का शरीर मानो जल उठा। "अधम हारित ! क्या तू इस एकान्त पर्णकुटी में बैठा यही साधना कर रहा है ? निर्लज्ज ! तू तपोभ्रष्ट हो गया है। तेरी साधना निर्माण काल में टूट जाने वाले कच्चे घट की नाईं नष्ट हो गई है।......हाय ! तेरे मन में ऐसा विकार क्यों उत्पन्न हुआ ?"

मधुपुष्पा के मर्म-वचनों का किंचित भी ध्यान न करते हुए हारित उसी निर्लज्जता से बोला—"मैं बूढ़े उत्तंक की तरह दंभी नहीं। मैंने अपना चौबीस वर्ष का ब्रह्मचर्याश्रम लगभग समाप्त कर लिया है। अब मेरा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का समय आ गया है। तेरे लिए ही मैंने यहाँ साधना की है। मधु-पुष्पा,......देख"—समीप की पर्णकुटी में से हारित समान भुजा वाला एक पाट-वसन उठा लाया, जिस पर कमल पुष्पों की पंखुड़ियों और सीपी-कौड़ियों की सहायता से एक नारी-चित्र का निर्माण हुआ था।—"मैंने आज ही तेरा चित्र केवल कल्पना से बनाया है। तू इसी से समझ ले कि मैं तुझ में कितनी प्रगाढ़ आसक्ति वाला हो गया हूँ।"

"हारित..." क्रोध से उन्मत्त हुई मधुपुष्पा के रदनपुट फड़कने लगे। उसने झटका देकर उसके हाथ से वह चित्रयुक्त वसन खींचते हुए कहा—"तुझसे बढ़कर निर्लज्ज इस तपोवन में कोई नहीं हो सकता। तू ने यहाँ का वातावरण दूषित किया है। क्या तुझे मेरे शाप का किंचित भी भय नहीं ? गुरुजनों ने ठीक ही कहा है, कौआ रात्रि में नेत्र-हीन होता है और उलूक

दिवस में; पर कामवश हुआ मनुष्य दोनों नेत्रों के होते हुए भी अंधा हो जाता है। अधम! हारित मैं तुझे शाप देती हूँ।…"

मधुपुष्पा के आगे बोलने के पूर्व ही हारित उसके चरणों में झुक गया—"गुरुसुता! आपका तेज सर्वविदित है! मैंने आपका अनादर करने की दृष्टि से कुछ भी नहीं कहा। आप रुष्ट न हों। मैं धैर्यपूर्वक उस समय की प्रतीक्षा करूँगा जब गुरुश्रेष्ठ स्वयं ही मुझ जैसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी को आपका पाणिग्रहण करायेंगे…"

"अभी तक तेरा उन्माद ज्यों का त्यों है—" मधुपुष्पा ने मानो अपने ही ओठ काटते हुए कहा—"जा, अपनी कुटिया में जाकर शीर्षासन कर। दुष्टात्मा!" इतना कह मधुपुष्पा ने वह चित्र-युक्त पाट-वसन सरोवर की भेंट कर दिया तो हारित उछलकर उसे उठाने सरोवर में कूदा। तभी आश्चर्य से चकित हुई मधुपुष्पा ने देखा कि मुनि उत्तंक के कंधे पर बैठा हुआ हारितकुमार उसी प्रकार सरोवर से ऊपर आ गया जैसे बल-पूर्वक दबाई गई लकड़ी जल से ऊपर आ जाती है। वास्तव में मधुपुष्पा और हारित दोनों ही इस बात को नहीं जानते थे कि मुनिवर उत्तंक सरोवर के तल में बैठे हुए एक पखवाड़े की समाधि में मग्न थे। वे अपनी समाधि भंग करके ही ऊपर आ गए थे। उनके कन्धों पर अटका हुआ हारित कुछ जल में भीजने के कारण और कुछ परिस्थिति की भयंकरता का अनुमान कर भय से काँप रहा था। उत्तंक मुनि ने जब तट पर मधुपुष्पा को क्रोध से विदग्ध आहत सर्पिणी की भाँति देखा तो उन्होंने अर्थपूर्ण दृष्टि से हारित की ओर दृष्टिपात

किया। अब तक वह क्रमशः तट की ओर आने वाले उत्तंक जी के कन्धे से उछलकर तट पर खड़ा हो गया था और हाथ जोड़ कर कहने लगा था—"मुनिवर ! क्षमा करें ! अनजान में मुझसे बड़ा अपराध हो गया।"

"किसका अपराध ?" समाधि के कारण मुख से प्रभावशाली तेज बिखराते हुए उत्तंक जी गंभीर वाणी में बोले—"मेरा या गुरुपुत्री का ?"

लज्जित चोर की भाँति कुमारहारित के नेत्र झुक गए। तब उत्तंक जी की उपस्थिति से बल पाकर और उनका संवेदना का स्वर सुनकर मधुपुष्पा वैसी ही आश्वस्त हो गई जैसे गरुड़ की वाणी का श्रवण कर रावण के आकाशगामी रथ में पड़ी कुकरी की भाँति विलाप करती हुई सीता जी हो गई थीं।

उत्तंक जी का प्रश्न निरुत्तर रह गया तो वे और भी गंभीर स्वर में बोले—"जान पड़ता है आज तुमने आश्रम के पावन वातावरण को कलंकित करने की कुचेष्टा की है।... मधुपुष्पा।...मैं तुमसे जानना चाहता हूँ, इस धूर्त ने क्या तुम्हें कोई कष्ट पहुँचाने की चेष्टा की है ?"

इतना सुना तो मधुपुष्पा उत्तांक जी के कन्धे से सिमटकर रो पड़ी और जो कुछ विगत क्षणों में घटा था, उसने सब उत्तांक जी को सुना दिया। हारित हर क्षण इसी भांति कुम्हलाता गया जैसे क्रमशः अंगुलियों का स्पर्श पाकर छुईमुई का वृक्ष संकुचित होता जाता है।

"हारित !" मेघ सी गंभीर वाणी हो आई उत्तंक जी की—

"यद्यपि तुमने दुस्तर गुरु-अपराध किया है और तुम दंड के भागी हो। पर मैं नहीं चाहता कि तुम किसी भारी विपत्ति में पड़ो, क्योंकि तुमने बहुत समय तक शिष्य रूप से मेरी भी सेवा की है। अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम एक सप्ताह तक इसी सरोवर में कच्छप बनकर रहो। शाप-मुक्ति के पश्चात् तुम्हें न तो अपनी दुर्गति का स्मरण रहेगा और न ही अपनी इस कुचेष्टा का।"

उत्तंक जी के इतना कहते ही हारित का शरीर नष्ट हो गया और उसके स्थान पर एक भयानक कच्छप प्रकट होकर शनैः-शनैः सरोवर में प्रविष्ट हो गया। मधुपुष्पा ने तब तक जितने पुष्पों का चयन किया था उतने ही लेकर वह अपनी कुटिया की ओर लौट आई।

अहिल्या जी के पास बैठी-बैठी ही मधुपुष्पा ने मुनि उत्तंक के इस तप के प्रभाव को क्षणमात्र में ही स्मरण किया। पर इतने पर भी वह सशंकित थी कि सौदास के चंगुल में फँस कर वे अपने जीवन की रक्षा भी कर सकेंगे अथवा नहीं। फिर उसके श्रवणपुटों में उत्तंक जी का शब्द पड़ा—"मातुश्री ! मैं प्राणों का उत्सर्ग करके भी आपके लिए गुरु-दक्षिणा लाने में सफल होऊँगा।" इसके साथ ही उसके कानों में केवल इतना ही गूँजता रहा—"प्राणों का उत्सर्ग। प्राणों का उत्सर्ग।"

अहिल्या जी ने उसे मौन जड़ बैठी देख कर कहा—"क्या हुआ तुम्हें पुत्री ? किसी चिंता में मग्न हो ?"

मधुपुष्पा की विचार-श्रृंखला टूट गई, "नहीं, किसी चिंता

में मग्न नहीं हूँ। सोचती थी, पिता जी के भोजन का समय हो गया है…"

"समझी !…तुझे आज बड़ा ध्यान रहा। अभी तो आम्र की छाया बाहर की चौकी पर भी नहीं आई है, पुत्री !"

"माता जी ! सूर्य अब उत्तरायण होने जा रहे हैं, इसी से छाया में अन्तर आ रहा है।"

"अच्छा ! तू तो बड़ी मर्मज्ञ जैसी हो रही है।"

इसी समय एक ब्रह्मचारी ने वहाँ गौतम जी के पधारने की सूचना दी। अहिल्या जी के आसन छोड़ कर खड़ी होते-होते गौतम जी ने आकर विस्मय से कहा—"बहुत समय हो गया, उत्तंक तुम्हारे पास आये थे ?"

"हाँ, आये थे।"

"फिर कहाँ गए ?" उत्सुकता से खड़े-खड़े ही पूछा उन्होंने, "क्या तुमने कहीं भेज दिया ?"

मधुपुष्पा भी खड़ी हो चुकी थी। पिता तक उत्तंक की यात्रा का समाचार पहुँचाने की उसकी अभिलाषा अनायास ही पूर्ण होने वाली थी। अतः कौतूहल भरी वाणी में उसने अहिल्या जी से पूर्व ही कहा—"माता जी ने उन्हें गुरु-दक्षिणा जुटाने भेज दिया है। वे रानी मदयन्ती के दिव्य मणिमय कुण्डल लेने गए हैं।

"मणिमय कुण्डल लेने गए हैं ?"—आश्चर्य से गौतम जी ने मधुपुष्पा के शब्दों की पुनरावृत्ति की। वे किंचित दुःख से कहने लगे—"देवि अहिल्या, यह तुमने क्या किया ? मेरा सबसे प्रिय शिष्य अकाल मृत्यु का ग्रास हो जायगा ! उसने मेरे पास

रहकर व्यक्तिगत स्वार्थ की उपेक्षा कर वैदिक आचार का पालन करते हुए सरल, एकान्तप्रिय, सत्यवादी और दयालु होकर अपने ब्राह्मणत्व को सार्थक किया था। वेद की यजुर्वेदीय शाखा को कल्प और छहों अंगों सहित पढ़कर उस धर्मज्ञ विप्र ने अपने को श्रोत्रिय जनों की कोटि में ला रखा था। शाप और अनुग्रह में समर्थ वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऋषि तुल्य हो गया था। देवि अहिल्या! वह ध्याननिष्ठ, जितेन्द्रिय, मिट्टी और सुवर्ण को समान समझने वाला मुनि ही था। उसने चार वेद, छः अंग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चौदहों विद्याएँ प्राप्त की थीं। मेरे ऐसे प्रिय और समर्थ शिष्य को तुमने बिना विचारे कुंडल लाने क्यों भेज दिया? उसके तपोबल, योगबल और बुद्धिबल पर यद्यपि अविश्वास नहीं किया जा सकता है, पर आसुरी भाव को प्राप्त होने वाले व्यक्ति पर किसी भी बल का प्रयोग असफल हो जाता है। राक्षस भाव को प्राप्त हुए सौदास क्या उसे कुँडल लाने की आज्ञा दे देगें? वे तो नरभक्षी हो गए हैं। हाय! उनके हाथों उत्तंक की हत्या अब निकट ही समझो।" कहते-कहते गौतम जैसे धैर्यवान् ऋषि भी अधीर हो गए।

उनकी ऐसी स्थिति देखकर मधुपुष्पा डर गई। वह सोचने लगी—'कहीं पिता जी से दुःखवश माता जी का कोई अनिष्ट न हो जाय।' अतः उनकी ओर से पिताजी का मनोभाव परिवर्तित करती हुई वह बोली—"माता जी स्वयं नहीं चाहती थीं कि उत्तंक जी से कोई दक्षिणा ली जाय, पर वे बहुत हठ करने लगे। उनकी वाणी में अहंकार और अभिमान

था। उसी ने संभवतः माता जी को ऐसा कहने के लिए विवश किया।"

"ओहो ! कैसा अनर्थ हो गया !..." पश्चात्ताप के स्वर में गौतम जी कहने लगे—"बेटी ! मैं समझता हूँ, जिस प्रकार लक्ष्मण राम का बल पाकर ही महान् से महान् कार्य करने के लिये तुरन्त सगर्व उद्यत होते थे, उसी प्रकार उत्तंक की बातों में भी गुरुवत्सलता का बल रहता है। उसमें तो अहंकार, अभिमान हो ही नहीं सकता; जिस प्रकार बालू को मथने से तेल प्राप्त नहीं हो सकता और जल का बिलोड़न करने से घृत का दर्शन असंभव है, उसी प्रकार उत्तंक में क्रोध, लोभ, अहंकार, अभिमान आदि का भी आत्यन्तिक अभाव हो चुका है।..."

"क्षमा करें, ऋषिश्रेष्ठ ! मैं नहीं जानती थी कि मेरे इस कथन का ऐसा दुष्परिणाम हो सकेगा। तथापि, नाथ ! आप सर्व प्रकार समर्थ हैं। आपके संकल्प मात्र से गुरु-वत्सल उत्तंक का कोई अनिष्ट न होगा। यदि उसका कोई अनिष्ट हो गया तो मुझे उस गौ की भाँति वेदना से डकरा कर प्राण छोड़ देने होंगे, जिसके सुन्दर वत्स का उसके समक्ष ही हनन किया गया हो। अतः नाथ आप मुझसे हुई इस त्रुटि का शमन करें। यद्यपि मैंने उन्हें प्रमादवश ऐसी आज्ञा नहीं दी, तथापि स्पष्ट ही अनजाने मैंने प्रमादियों जैसा कार्य किया है। आप समर्थ हैं, अतः आपके लिये सब कुछ सुगम है, मुझे अपनी कृपणतावश ही इस समय सब कुछ अगम लग रहा है।"

उसी समय विचारविमग्न मधुपुष्पा बोली—"पिताजी, रानी मदयन्ती ने वे दिव्य कुंडल स्वर्ग के राजा इन्द्र से प्राप्त

किये थे। क्यों न उत्तंक जी और कुंडलों, दोनों की रक्षा के लिये उनका आवाहन किया जाय…"

"ठीक! बेटी, तुमने समयोचित परामर्श दिया है।" गौतम जी का उद्वेग जैसे शान्त हो गया। वे तुरन्त अपनी कुटिया में लौट आये। भोजन का समय व्यतीत हो चुका था। आश्रमवासियों को भोजन की आज्ञा देकर उन्होंने अपने कक्ष के द्वार बन्द कर लिये और शुद्ध चित्त से उन्होंने इन्द्र का स्मरण किया।

इन्द्र जब से गौतम जी के शापवश एक सहस्र नेत्रों वाला हुआ था, तब से उनका बड़ा उपकार भी मानता था और भय भी। उपकार तो इसलिये कि वह हजार नेत्रों से अवतार-काल में भगवान् का दर्शन कर अपने को सबसे अधिक भाग्यवान् मानता था, और भय इसलिये कि वह अहिल्या जी को छलने की अपनी कुचेष्टा में पूर्णतः सफल न होकर उनके शाप से नष्ट होते-होते बच गया था। अतः जब गौतम जी स्वर्गपति का स्मरण करते, वह उनके समक्ष वैसे ही उपस्थित हो जाता जैसे कोई भृत्य अपने गौरवमय स्वामी के सम्मुख करबद्ध आ खड़ा होता है। नेत्र मूँद कर जब गौतम जी ने इन्द्र का आवाहन किया तो वह सूक्ष्म शरीर धारण कर, एक तेजस्वी एवं सुन्दर ब्राह्मणकुमार का रूप धारण कर उनकी कुटी में प्रकट हो गये और हाथ जोड़कर गौतम जी के चरणों में गिर पड़े। वे सविनय कहने लगे—"मेरे लिये गुरुदेव वाचस्पति के सदृश ही पूज्य, मुनिवर गौतम जी, सहर्ष कहिये, मैं आपका कौन सा अभीष्ट सिद्ध कर सकता हूँ।"

"बलसूदन इन्द्र ! तुम यशस्वी और दीर्घजीवी रहो ! आज मैंने तुम्हें एक जटिल कार्य के लिये इस समय स्मरण किया है।"

"आपके आशीर्वाद से मेरे लिये कोई कार्य जटिल न होगा, आपका अभीष्ट मुख से निकलते ही सिद्ध हुआ समझें।"

"तो, स्वर्गपति सुनो ! हमारे तपोवन के परम तेजस्वी मुनिकुमार उत्तंक से गुरु-दक्षिणा में मधुपुष्पा की माता ने दिव्य कुण्डल मंगाए हैं, जो अवधेश साम्राज्ञी रानी मदयन्ती धारण करती हैं।"

"अच्छा ! वे मणिमय कुण्डल तो मैंने ही सौदास जी को मित्रतावश दिये थे। उनके चोरी हो जाने का भय सदा ही बना रहता है, ऋषिश्रेष्ठ !"

"इन्द्र ! चोरी के भय की कोई बात नहीं। उत्तंक का पुरुषार्थ इस भय को जीतने के लिये पर्याप्त है। इस समय एक और महान् विपत्ति की आशंका है। राजा सौदास मुनि वशिष्ठ जी के शाप से नरभक्षी राक्षस हो गये हैं। उनकी आज्ञा के बिना वे कुण्डल प्राप्त न हो सकेंगे। हमें यही भय है कि कहीं नरभक्षी सौदास उत्तंक का भक्षण कर उन्हें समस्त प्रकार के पुण्यों से विहीन न कर दें ! अभी तो उन्होंने दीर्घकाल की गुरुसेवा के पश्चात् गृहस्थ पालन का सुन्दर निश्चय ही किया है। अतः मैं चाहता हूँ कि तुम अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तंक की सहायता करो और उसके पुरुषार्थ को सफल बनाओ।"

"यद्यपि असुर मेरे चिर शत्रु हैं, पर आपके आशीर्वाद से उत्तंक की सहायता करने में मुझे कोई भय नहीं है। मैं विश्वास-

पूर्वक कहता हूँ, ऋषिवर उत्तंक अपने कार्य में सफल होंगे। मैं ब्राह्मण वेश धारण कर तुरन्त उनके पास जाता हूँ।"

"तुम्हें सफलता मिले !"

इन्द्र को यों आशीर्वाद देकर गौतम जी ने घोषणा कर दी कि चार दिवस पर्यन्त कोई भी किसी प्रकार का विघ्न न पहुँचाए। कुटी का द्वार बन्द कर सिद्धासन लगाकर वे चित्त की वृत्ति का निरोध करते हुए उत्तंक की सहायता एवं सफलता के भाव से समाधिस्थ हो गये।





धरोहर

गहन तिमिर की बेला के पश्चात् ही अरुणिम प्रभात का उदय होता है, उसी प्रकार मुनि उत्तंक के भारी विलाप के क्षणों में से ही धैर्य को जन्म मिला। गुरुपत्नी अहिल्या जी ने कुण्डल प्राप्ति के लिये चार दिवस का समय निश्चित कर दिया था, उसमें से डेढ़ दिवस व्यतीत हो चुका था। उन्होंने अपनी श्रेष्ठ बुद्धि का आश्रय लेकर अपने काष्ठ दण्ड से भूमि पर भीषण प्रहार किया। उन्हें बेलवृक्ष के समीप ही एक वाल्मीकि दृष्टिगत हो गई थी। उसी में सर्प के प्रविष्ट होने के चिह्न भी वहाँ विद्यमान थे। यही देख कर वे क्रोधाभिभूत

हो गये थे। उन्होंने सोचा, 'नागलोक में जाकर ही तक्षक से अब कुण्डल मिल सकेंगे।' नागलोक का कोई और मार्ग वे जानते नहीं थे। अतः उन्होंने—'वलेषु हस्तिबलादीनि' के अनुसार एक सहस्र पराक्रमी हाथियों का बल प्राप्त कर, अपने काष्ठ-दण्ड से ही भूमि पर जो पहला ही भीषण प्रहार किया, उससे भूमि उसी प्रकार विचलित हो उठी जैसी धनुष-यज्ञ के समय लक्ष्मण के सकोप उद्‌गार प्रकट करने से ही हो गयी थी। दिग्गज डोल उठे।

मुनि उत्तंक के स्नायु रक्त की उष्णता से कठोर हो गये थे। धरा का कम्प अभी शान्त नहीं हुआ था और उत्तंक जी दूसरा प्रहार करने ही वाले थे कि सहसा मेघ गर्जन के समान शब्द करता हुआ एक दिव्य रथ उनके समीप आकर रुका। उत्तंक जी विस्मित हुए और उसे देखने लगे। उनका उठा हुआ हाथ रुक गया। उस दिव्य रथ में जुते हुए दो महा-बलिष्ठ घोड़े बड़ी तीव्र गति से श्वास छोड़ और ले रहे थे। उनके नथुनों से उस समय जो शब्द हो रहा था, वह क्रोध से फुफकारने वाले तक्षक का स्मरण कराता था। उत्तंक जी ने समझा सम्भवतः यह रथी बहुत दूर से चला आ रहा है और पृथ्वी का कम्प ही इसकी गति को अवरुद्ध करने में कारण हुआ है। उत्तंक जी ने जब उस रथी को जो केवल एक पीत वस्त्र की धोती और यज्ञोपवीत धारण किये ब्रह्मचारी सदृश प्रतीत होता था, अपनी ही ओर आते देखा, तो वह शंकित हो उठे। वे एक ही क्षण में निश्चय कर बैठे—'यदि इसने मेरे

कार्य में कोई बाधा उपस्थित की तो मेरे काष्ठ-दण्ड का दूसरा प्रहार इसी पर होगा।'

तभी वह ब्राह्मण रथी उनके कंधे पर हाथ रखकर मित्र की नाईं उपहास करता हुआ बोला—"ब्राह्मणकुमार उत्तंक जी! गुरु-दक्षिणा चुकाने में असमर्थ होकर क्या आप पाताल जाने की तैयारी कर रहे हैं?"

उत्तंक जी का क्रोध इस वाणी से और भी प्रज्ज्वलित हो उठा। पर परिचित की नाईं सम्बोधन करने वाले ब्राह्मण पर वह सहसा कोई प्रहार न कर सके। उन्होंने प्रश्न किया, "आप कौन हैं? और इस निर्जन वन में आप कैसे पधारे हैं? मित्र की भांति संबोधन करने वाले और शत्रु की भाँति वचन बोलने वाले आप कौन हैं? शीघ्र अपना प्रयोजन प्रकट कीजिये।"

एक ही श्वास में जब उत्तंक जी इतना कह चुके तो उस रथी ने हँस कर कहा—"मै आपका ही एक अकिंचन मित्र हूँ, सहायक हूँ। आपके मणिमय कुण्डल चोरी हो गये हैं। मैं इसी दिशा में आपकी सहायता करने का इच्छुक हूँ।"

उत्तंक जी ने तब प्रसन्न होकर कहा—"आप जानते हैं, उन कुण्डलों को किसने चुराया है?"

"सुव्रत! वे कुण्डल जहाँ तक मैं जानता हूँ, नागलोक ही ले जाये गये हैं। आप इस काष्ठ-दंड से पृथ्वी को भेद कर नागलोक पहुँचने का दुस्साध्य श्रम कर रहे हैं, उससे आपकी दृढ़ इच्छा-शक्ति और पराक्रम का परिचय मिल जाता है। मैं यही देखकर आप पर प्रसन्न हुआ हूँ।"

"तो ब्रह्मन् ! आप शीघ्र मुझे नागलोक तक पहुँचने का मार्ग बताएँ।" उत्सुकता से उत्तंक जी ने कहा।

"देखो निष्पाप ब्राह्मण ! मैं आपको वज्र के समान ही शक्तिशाली अपना दंड देता हूँ। इसे अपने काष्ठ दंड में संयुक्त कर आप जब पृथ्वी पर अपनी पूर्ण शक्ति से प्रहार करेंगे तो शीघ्र ही नागलोक का मार्ग ज्ञात हो जायेगा।"

उत्तंक जी ने अपने दंड में वह वज्र संयुक्त करते हुए कहा—"देखिये, आप मुझे झूठी आशा तो नहीं दे रहे हैं ? किसी को झूठी आशाएँ देना, विष देने से भी महान् कष्टदायक है; क्योंकि विष खाने वाला व्यक्ति तो तुरंत मर जाता है, पर झूठी आशा के सहारे जीने वाला मनुष्य तिल-तिल कर मरने वाले की भाँति ही महान् कष्ट पाता है। यदि मैं नागलोक तक अपने इस काष्ठ दंड की सहायता से नहीं जा सकूंगा तो आपके सामने ही प्राण त्याग कर दूंगा।…"

"आप किंचित भी निराश न हों, मुनिकुमार। मैं आपको झूठी आशा देने में अपना कोई प्रयोजन नहीं देखता। आपसे मैं सत्य ही कह रहा हूँ। आप वज्र के समान मेरे इस तेजस्वी दंड का प्रयोग कर नागलोक का मार्ग पा लेंगे। पर नागलोक में पहुँचकर आप स्वयं अपनी बुद्धि को भ्रमित होने से बचाएँ। तभी आप अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकेंगे।"

सावधान-से होकर उत्तंक जी बोले—"आप सत्परामर्श देकर मुझ पर बड़ी कृपा कर रहे हैं। सचमुच, यह मनुष्य विषयों के वश होकर अपने हाथ में आई सिद्धि को गंवा देता है। मतंग स्पर्श से मारा जाता है, भ्रमर गंध के वश हो जाता

है। कुरंग शब्द से मोहित हुआ प्राण देता है। पतंग रूप पर आसक्त हुआ मर जाता है। और मीन रसना के वश हुई प्राणों से हाथ धो बैठती है। ये सब तो एक ही विषय से मारे जाते हैं। पर मनुष्य के पास तो पाँचों ही विषय एक साथ हैं। ब्राह्मण श्रेष्ठ ! मैं भी रसनेन्द्रिय के आधीन होकर प्राप्त कुण्डलों को खो बैठा हूँ। यही मेरी मूढ़ता है। इसी के कारण मैं भारी विपत्ति में फँस गया हूँ।"

"लीजिये !" उस रथी ने अपना अस्त्र जैसा दंड उत्तंक जी को सौंप दिया—"आप इससे अपना मार्ग प्रशस्त कीजिये।"

उत्तंक जी ने वह दिव्य अस्त्र ले लिया और भूमि पर प्रहार करने के लिए पीठ मोड़ी, तभी उन्हें स्मरण हुआ, 'मैंने अपने इस मित्र का परिचय तो प्राप्त ही नहीं किया। विपत्ति में इसने सच्चा स्नेह प्रकट कर आत्मीय मित्र का सा व्यवहार किया है।'

तब उन्होंने दौड़कर घोड़ों की लगाम थाम ली और ब्राह्मण का परिचय प्राप्त करने के लिए प्रश्न किया—"क्षमा करें ! आपको जाने से रोक रहा हूँ। आप कृपा कर अपना परिचय तो दें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से आप मेरी सहायता में तत्पर हुए हैं। अतः आप निश्चय ही कोई दिव्य पुरुष हैं। विपत्ति में मेरी शक्ति को द्विगुणित कर मेरा उत्साह बढ़ाकर, मेरे विश्वास को बल देकर आपने मुझ पर महान् उपकार किया है। अतः आप इस समय अपना नाम अवश्य बताइये। समय आने पर मुझ से भी आपका कोई प्रिय कार्य हो सकेगा तो करूँगा।"

"ब्रह्मन् ! मैं स्वर्गाधिपति इन्द्र हूँ।"

"इन्द्र !" हर्ष विभोर हो उत्तंक जी ने कहा जैसे सहसा-उन्हें विश्वास न हुआ हो।

"हाँ ! मैं आपके गुरु जी से उपकृत हुआ ही आपकी सहायता के लिए तत्पर हुआ हूँ। राक्षस सौदास से भी आपकी रक्षा का भार मुझे सौंपा गया था। पर, उसे तो आपने स्वयं ही बुद्धिबल से जीत लिया। गौतम जी को यहीं आशंका थी।"

"तो आप गुरु जी की प्रेरणा से यहाँ आये हैं। जान पड़ता है, माता अहिल्या जी ने उन्हें बताया होगा। हाय ! मैं तो आते समय उनका आशीर्वाद लेना ही भूल गया। इसीलिए विपत्ति में पड़ गया हूं..." गुरुवत्सल उत्तंक जी, गुरु-कृपा का स्मरण कर एक साथ ही पश्चात्ताप और हर्ष की भावनाओं से भर गए। उनका यह भाव देखकर इन्द्र भी गद्गद् हो गए। उत्तंक जी ने तब कहा—"उन्हीं की कृपा से मैं अब कृतकृत्य हो जाऊँगा। इन्द्र जी ! यह उनकी कैसी महानता है कि वे इस समय भी संकट का अनुमान लगाकर मेरी सहायता में, मेरे योग-क्षेम में वैसे ही तत्पर हुए हैं, जैसे पिता पुत्र को संकट में संरक्षण देता है।"

"अच्छा मुनिश्रेष्ठ ! आप अब अपने कार्य में विलम्ब न करें। मुझे आज्ञा दें।"

अश्रुप्लावित नेत्रों से इन्द्र को विदा कर उत्तंक जी ने भूमि पर वज्र से संयुक्त काष्ठ दंड का प्रहार किया तो सहसा भूमि फट गई। जैसे किसी सरोवर की काई हट जाने से स्वच्छ जल दृष्टिगोचर हो जाता है, वैसे ही उत्तंक जी के समक्ष सहसा सुमेरु जैसी प्रभा वाला नागलोक आगया। पर उसकी स्वर्णिम

प्रभा उसी प्रकार विकम्पित थी जैसे वर्षाऋतु के प्रभात काल में प्रखर सूर्य की रश्मियां सरोवर की चंचल ऊर्मियों पर थिरकती हैं। उत्तंक जी के वहाँ पहुँचने से ही एक कंप-सा आ गया था। पर जैसे ही मुनि श्रेष्ठ उत्तंक स्थिर हुए वैसे ही वहां सब कुछ स्थिर दिखाई देने लगा। मानो वहाँ भूकम्प के से हल्के क्षणिक धक्के का कोई प्रभाव ही न हुआ हो।

उत्तंक जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, नागलोक सहस्रों योजन तक विस्तृत है। उसका परकोटा अपनी मणियों और रत्नों से युक्त हुआ उत्तम शिल्प का परिचय दे रहा था। उत्तंक जी को तभी ऐसी भीनी-भीनी मंद शीतल गंध आती प्रतीत हुई, मानो वह किसी चन्दन वन के निकट पहुँच गए हों। चकित-भ्रमित से वह आगे बढ़े, तो उत्तम जल से परिपूर्ण सरोवर दृष्टिगोचर हुए। उनकी जलराशि गहन होते हुए भी पारदर्शक आरसी जैसी प्रतीत होती थी। सोपान स्फटिक से निर्मित थे। चारों ओर आम्रकुंज से मिलता-जुलता ही लता-वितान छाया हुआ था। कहीं निर्झरों की कलकल ध्वनि आ रही थी। कहीं स्वच्छ जल वाली वेगवती सरिताएँ प्रवहमान् थीं। भवन आकाशचुम्बी और आकर्षक थे। समस्त नागलोक यों जीवन के चिह्नों से परिपूर्ण था। पर दक्षिण से उत्तर में जाने वाली और पूर्व से पश्चिम में जाने वाली तीन-तीन सड़कों से विभक्त उस नगरी में कोई प्राणी उन्हें दृष्टिगत न हुआ। इसी कारण उनका भ्रम और भी बढ़ता जा रहा था। वह अभी तक यह भी नहीं समझ पाये थे कि वहाँ दिन का प्रकाश है अथवा रात्रि है। सहसा उनके कानों में वीणा का अत्यंत

मनोहारी स्वर सुनाई दिया, वह उसी ओर बढ़ गए।

कुछ दूर जाने पर बाईं ओर से ही वह वीणा-वादन का शब्द आता प्रतीत हुआ। वे उसी ओर घूम गए। देखते क्या हैं, कि एक अत्यन्त रमणीक स्थल है जो वृक्षों की शीतल छाया से आच्छादित, कमल दलों की मादक गंध से मन-लुभावना और सुगंधित द्रव्यों से सिंचित साक्षात् मदन देव का ही क्रीड़ा-स्थल प्रतीत होता था। उत्तंक जी उस वातावरण से प्रभावित हुए बिना ही उस ओर बढ़ गए जिधर से वीणा का स्वर सुनाई दे रहा था। सघन लता ओट में बैठी हुई सुन्दर युवतियाँ देखकर वे जैसे हतप्रभ हो गए। वे सोचने लगे—'नहीं जानता, ये युवतियाँ कौन हैं। क्या ये तक्षक का भवन जानती होंगी ? क्या ये मुझे मणिमय कुण्डल दिलाने में सहायक होंगीं।'

वे ऐसा सोच ही रहे थे कि वीणा का स्वर शांत हो गया और वे युवतियाँ दौड़कर स्वयं ही उनके पास आ गईं। वे उन्हें देखकर इसी प्रकार प्रसन्न चित्त और प्रफुल्ल वदन प्रतीत हुईं मानो मान्धाता की पचासों कन्याएँ तपोबल से तरुण हुए सौभरि को पाकर खिल गई हों। उनमें से किसी ने उत्तंक जी का हाथ पकड़ लिया। कोई बैठकर पैर दबाने लगी, कोई हाथ दबाने लगी। तब उनमें जो परम सुन्दरी थी और उनकी रानी जैसी प्रतीत होती थी बोली—"हमारे बड़े भाग्य जो मनुष्य-लोक से आप यहाँ पधारे। आप तो अपनी भव्यमुद्रा से ही परम तेजस्वी तपस्वी प्रतीत होते हैं। हम नागलोक की कन्याएँ हैं। मनुष्य-लोक के प्राणियों का सहवास पाने के लिए तो हम लालायित रहती हैं। आप निश्चय ही अपने तपोबल से हमें

सर्व-सुख सम्पन्न बनाने में समर्थ प्रतीत होते हैं। अतः आप हमारा वरण कर, हमारे गृह में सारे स्वर्गिक सुखों को भोगते हुए सहस्त्रों वर्ष तक जीवन व्यतीत करें।"

उस सुन्दरी का ऐसा निर्लज्जता पूर्ण संभाषण सुनकर और उसकी सखियों की विचित्र चेष्टाएँ देखकर उत्तंक जी बहुत खिन्न हो गए। पीछा छुड़ाते हुए वे बोले—"देवियो, मैं इस समय एक विशेष कार्य से ही नागलोक में आया हूँ। पहले मैं उस कार्य को सम्पन्न कर लूँ, तब तुम्हारी बातों का मैं उचित उत्तर दूँगा।"

"मान लिया!"—वह सुन्दरी नागकन्या बोली—"आप अपना कार्य सिद्ध करें। मैं आपकी सहायता करूंगी। पर अभी शीघ्रता की क्या आवश्यकता है? आप कुछ घड़ी मेरे गृह को पवित्र करें, वहीं विश्राम करें। मैं आपको शीतल अमृत तुल्य जल दूँगी। उससे आप अपनी लम्बी यात्रा के श्रम का परिहार करें, पिपासा शान्त करें। फिर अपने कार्य में निश्चिन्त होकर प्रवृत हों।—यहां से तो चलिये।" तभी उत्तंक जी के देखते-देखते सब कन्याएं अदृश्य हो गईं। पर उसी परम सुन्दरी, सबकी नायिका सी प्रतीत होने वाली कन्या ने उत्तंक जी का हाथ अपने कोमल हाथ से पकड़ लिया। उत्तंक जी सिहर उठे। उसी क्षण उन्होंने झटक कर अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा—"देवि, यह नागलोक का कौन सा भाग है?"

"यह तो प्रवेश-द्वार ही है। ब्रह्मन्! यह लोक पाँच योजन चौड़ा और सौ योजन लम्बा है।"

---

१. चार कोस का एक योजन

"और तुम कौन हो ?" सशंकित हो उत्तंक जी ने प्रश्न किया। मन ही मन वे चिंताकुल हो उठे थे और उन्हें इस विशाल नगरी में कुण्डलों की प्राप्ति असंभव दिखाई देने लगी थी। फिर यह माया का परिवार अप्रत्याशित ढंग से ही मानो उन्हें लुभाने आ गया था। 'क्या किसी भी साधना में साधक को काम के बाणों से प्रताड़ित होना ही पड़ता है ?' वे सोचते-सोचते बोले—"इस प्रकार तुमने निर्लज्जता से क्यों वार्तालाप किया ?"

"महाभाग ! हम सभी नागलोक के प्रवेश-द्वार पर प्रहरी का कार्य करती हैं। जब तक आगन्तुक को हम सन्तुष्ट न कर दें, और आगन्तुक हमें सन्तुष्ट न कर दे, हम उसे नागलोक में प्रविष्ट ही नहीं होने देतीं।...अतः महाराज, आप अपना अभीष्ट बताइये। मुझे तो आप परम तेजस्वी प्रतीत होते हैं। आप वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी ब्रह्मचारी के तेज से प्रकाशित हो रहे हैं। आपका सौन्दर्य, बल, पौरुष देखकर मैं मोहित हो गई हूँ। यद्यपि यहां किसी भी प्रयोजन से आने वाले मनुष्य का जीवित लौटना कठिन होता है, पर यदि आप मुझे वचन दें तो मैं आपका कार्य सिद्ध कराऊंगी और आपको इसी स्वर्गोपम लोक में ऐसे ही सुख से रखूंगी जैसे पलकें पुतलियों को रखती हैं।"

उत्तंक यह सुनकर निराशा और क्रोध से विवश हो गए। वे सोचने लगे, 'मैंने माता अहिल्या जी को यह वचन दिया है कि चाहे प्राणों का उत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े, मैं दिव्य कुण्डल लेकर ही लौटूंगा।' उनके नेत्रों में उस समय का

दृश्य उपस्थित हो गया, जब माता अहिल्या जी के समीप बैठी मधुपुष्पा को उन्होंने कुण्डलों का प्रसंग आते ही कुम्हलाते देखा था। वे कुपित होकर बोले—"निर्लज्ज नागकन्या ! तूने जो कुछ कहा है, वह कर्तव्यवश ही कहा है। पर मेरे लिए यह समय प्रमाद के वश होने का नहीं है। मैं गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए उद्योगशील हूँ। अतः तुम किसी भी प्रकार मेरे कार्य में बाधा न बनना, अन्यथा तुम्हें प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। तुमने चतुर नीति-युक्त वचनों से मेरे समक्ष जो मोहक प्रस्ताव रखे हैं वे इस समय क्या, किसी भी समय मुझे नहीं लुभा सकेंगे। अतः यदि तुम अपना मंगल चाहती हो तो, मेरी बात सुनकर तुरंत अनुकूल उत्तर दो।"

"आपकी वाणी में कुछ ऐसा तेज प्रतीत होता है कि मेरे मन में भय का संचार होने लगा है। आपकी इस शक्ति से मैं और भी प्रभावित हुई आपका वरण करने के लिए लालायित हो उठी हूँ। आपके शाप से मैं प्राण भी त्यागने को तत्पर हूँ, पर मरणकाल में भी मेरी यही प्रार्थना रहेगी कि आप मेरा वरण करें।—"

"दुष्टात्मा ! तू दशानन की भगिनी की ही भाँति निर्लज्ज है। हो सकता है, सुलोचना की भी ऐसी ही निर्लज्जता के कारण मेघनाद उसके अपहरण का अवसर पा गया हो। नाग-लोक की कीर्ति को कलंक लगाने के लिए उद्यत सुन्दरी, सुन। मैं यहां तक्षक नाग का विध्वंस करने ही आया हूँ। वह दुष्टात्मा मेरी माता अहिल्या जी के मणिमय कुण्डल चुरा लाया है।"

"समझी।—" व्यंग्य से उस नागकन्या ने कहा—"तो आप ही उत्तांक मुनि हैं।"—उसने उत्तांक जी का प्रेमालिंगन करने का उपक्रम करते हुए कहा—"अब तो आपको मैं निश्चय ही अपना अतिथि बनाकर रखूंगी।"

उसको आगे बढ़ते देख उत्तांक जी ने कुपित हो कहा—"मोह रूपी विपिन को वसन्त की नाईं लहलहाने वाली अधम-नारी! तू शीघ्र भस्म हो जा!"

उत्तांक जी के शाप से वह परम सुन्दरी नागकन्या भयंकर चीत्कार करते हुए भस्म की ढेरी में परिवर्तित हो गई। उत्तंक जी गहरी निराशा से तनिक और आगे बढ़े। वे बारंबार बेल वृक्ष को देखकर अपने प्रमादवश होने पर पछतावा कर रहे थे। साथ ही ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था उनका उद्वेग बढ़ता जा रहा था। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो उस विस्तृत राजमार्ग-से पथ पर हताश हो बैठ जाना ही चाहते थे कि वहां द्रुतगति से दौड़ता हुआ एक अश्व आया। उसका मुख वह्नि सा प्रज्वलित था और उसकी पूंछ के बाल श्वेत और कृष्ण थे। वह उसी प्रकार हाँफ रहा था, जैसे इन्द्र के रथ के घोड़े हाँफ रहे थे। पर मुनि उत्तांक के समीप आकर उस घोड़े ने ऐसी ही स्नेह भरी दृष्टि से उन्हें देखा मानो कोई काल के प्रभाव से बिलग हुआ सहोदर सहसा अपने सहोदर को पुनः पा गया हो। उसने मनुष्य की वाणी में बोलकर उत्तंक जी को और भी चकित कर दिया। वह धीरे-धीरे कहने लगा—"मैं तुम्हारा सहायक हूँ—"

"तुम?" आश्चर्य से उत्तंक जी ने कहा—"मेरे सहायक? कहाँ से आये हो? क्या तुम भी इन्द्र की भाँति अश्व-वेश में

कोई देवता हो ? क्या तुम्हें भी गुरु-प्रेरणा मेरी सहायता में प्रवृत्त कर रही है ?"

"मुनिकुमार ! समय नष्ट करने से क्या लाभ ? तुम्हें ऐरावत के पुत्र तक्षक से दिव्य मणिमय कुण्डल शीघ्र प्राप्त करने हैं तो मेरे अपान मार्ग में फूंक मार दो।

"अपान मार्ग में फूंक मार दो !"—आश्चर्य से हिचकते हुए उत्तंक जी ने कहा—"पर मैं यह दूषित कर्म कैसे कर सकता हूँ ? चाहे मैं कुण्डल प्राप्त न कर सकूं। चाहे मेरे प्राणों की हानि ही क्यों न हो जाय, मैं यह दूषित कर्म नहीं करूंगा।"

"वत्स ! हठ न करो। हठवश तुम अपना कार्य दुस्तर कर ही चुके हो। मुझे पहचानो। गुरु के आश्रम में रहते हुए तुमने मुझे कई बार फूंक मार कर प्रज्वलित किया है। अतः अपना अभीष्ट सिद्ध किया चाहते हो तो घृणा न करो।"

"अश्व श्रेष्ठ ! मैंने आश्रम में कभी आपके दर्शन किये हैं, इसका मुझे ज्ञान नहीं है ! अतः इसका ज्ञान मुझे हो कैसे ?"

"भृगुवंशी उत्तंक ! मैं तुम्हारे गुरु का भी गुरु जातवेदा अग्नि हूँ। अतः तुम्हारे कल्याण का इच्छुक हूँ। तुमने तो गुरु की प्रसन्नता के लिए मेरी सदैव विधिपूर्वक पूजा की है।" ऐसा कहते-कहते अश्व अपने ही तेज से मानो प्रज्वलित होने लगा।

उत्तंक जी ने तब विचार से कहा—"जान पड़ता है, आप नागलोक को जलाने की इच्छा से ही गुरु-प्रेरणा से यहां आये हैं। बड़ी प्रसन्नता की बात है, ये वायुभक्षी नाग सचमुच अग्नि

शिखाओं से त्रस्त हो शीघ्र कुण्डल लौटाने में ही अपना कल्याण मानेंगे ।"

ऐसा कहकर उत्तंक जी ने उस वह्नि सदृश अश्व के अपान मार्ग में फूंक मार दी । तुरंत ही धूममयी अग्निवाले अग्निदेव प्रज्वलित हो उठे । उनकी भयंकर लपटों और धूम से नागलोक वैसे ही अच्छादित हो चला जैसे कपीन्द्र के जलाने से लंका जल उठी थी । नागलोक में भयंकर हाहाकार मचने लगा । नागकन्याएं अट्टालिकाओं से कूदकर प्राण त्यागने लगीं । बालक धूम-भक्षण से ही काल के ग्रास बनने लगे । तब तुरंत ही वासुकी, तक्षक, एलापत्र, कम्बल, कर्कोटक, धनंजय, नील, पद्म, अर्बुद, आदि नाग बड़े दिव्य रत्न, अलंकार, वस्त्र आदि की भेंट लेकर मुनिश्रेष्ठ उत्तंक जी के सम्मुख उपस्थित हो गए । धूम से आच्छन्न नागलोक निहार से संवृत वन-पर्वत-सा शोभित हो रहा था । उसके मध्य उत्तंक के समीप खड़े हुए वे प्रमुख नागपति ऐसे ही प्रतीत हो रहे थे, जैसे कुहासे से ढके पर्वतों पर ऊंचे-ऊंचे घने वृक्षों का कुंज हो । अग्नि के ताप से तपे हुए वे नाग-नेता अपनी स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को आगे करके भयातुर स्वर में बोले—"हे भृगुश्रेष्ठ ! उत्तंक जी ! अपने तेज को शांत कर प्रसन्न होइये । आप अत्यन्त तेजस्वी हैं । हमारी पूजा स्वीकार कर हमें आशीर्वाद दीजिये । हमसे कोई अपराध बना हो तो उसे क्षमा कीजिये ।"

तक्षक और वासुकि ने उत्तंक जी को अर्घ्य-पाद्य से सन्तुष्ट किया और उनकी आज्ञा जानने के लिए वे दत्तचित्त होकर करबद्ध खड़े हो गए ।

तब उत्तंक जी ने कहा—"ऐरावत-कुल-भूषण तक्षक ! आपने वे मणिमय कुण्डल चुरा लिए हैं, जिन्हें मैं गुरु-पत्नी अहिल्या जी को भेंट कर गुरु-ऋण से मुक्त हो जाने वाला था। अतः आप उन कुण्डलों को अविलम्ब लौटा दें, क्योंकि चोरी का धन यदि आपने यहां रखा तो आप अपने लोक और कुल सहित नष्ट हो जायेंगे ।..."

परम तेजस्वी उत्तंक जी की वाणी उन सभी नागों को भय से कंपित किये दे रही थी । तक्षक ने तुरन्त अपनी सेविकाओं से तीनों लोकों में प्रसिद्ध मणिमय कुण्डल मंगवाकर उत्तंक जी को भेंट कर दिये । यही नहीं, उन्होंने अनेक दिव्य रत्न, माणिक आदि भी उत्तंक जी को भेंट करने की इच्छा प्रकट की । पर उत्तंक जी ने यह कहकर कि—"आवश्यकता से अधिक धन स्वीकार करना भी चोरी ही है, तक्षक ! मेरे आशीर्वाद से तुम अपने वंश सहित सुखपूर्वक रहो ।" उसे स्वीकार नहीं किया । तभी शनैः-शनैः धूम्र हट गया और मेघ छिन्न-भिन्न होने से जिस प्रकार आकाश उज्ज्वल, निर्मल दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार नागलोक भी पूर्ववत् शुभ्र, स्वर्णिम रूप में आ गया ।

दिव्य कुण्डल पुनः प्राप्त कर उत्तंक जी इतने हर्षित हुए कि उनका सारा श्रम-कष्ट और क्रोध शांत हो गया । वे नाग-लोक से तब उसी मार्ग से लौटने लगे । नागों ने उन्हें अपने लोक की सीमा तक तुरही बजाकर अलौकिक पुष्प वर्षा करते हुए विदा किया । नागों से सम्मानित हुए उत्तंक जी ने अग्नि की प्रदक्षिणा कर आश्रम की ओर प्रस्थान किया ।

पृथ्वी पर आकर वे पुनः आकाश-मार्ग से उड़कर निश्चित

अवधि में ही आश्रम में पहुँच गए तो आश्रम में हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। उत्तंक जी ने जब वे मणिमय कुण्डल अहिल्या जी के चरणों में रखकर अपना शीश झुकाया तो वे गद्गद् हो रो उठीं। उनका अश्रु-प्रवाह रोके न रुकता था। उत्तंक को सकुशल और कुण्डलों सहित देखकर उनका हृदय उस गौ की भांति नृत्य कर उठा, जो अपने बिछुड़े हुए वत्स को पा जाती हैं। उन्होंने उत्तंक को हृदय से लगा लिया और उनकी पीठ पर वात्सल्य भाव से हाथ फेरने लगीं। पर वाणी मानो अघोष हो गई थी। मधुपुष्पा भी उन्हें देखकर मुँह छिपा कर रो उठी कि कहीं कोई देख न ले।

"माता जी! आपके आशीर्वाद से मैं अपने कर्तव्य को पूर्ण कर सका हूँ। अब मैं गुरु जी के दर्शन कर कृतकृत्य होना चाहता हूँ।"

"बेटा! तुम्हारे जाने के पश्चात् ही वे चार दिनों के लिए समाधिस्थ हो गए थे। आज ही दो घड़ी पश्चात् सम्भव है, उनकी कुटिया के पट खुल जायें और वे हमें दर्शन देकर पुण्य का भागी बनाएँ।"

यह सुनकर गुरु-वत्सल उत्तंक खिन्न हो गए। मानो मोक्ष-दायिनी त्रिपथगा के तट पर लाकर भी किसी ने पवित्र गंगा-जल पीने का निषेध कर दिया हो। वे मुनि-पत्नी अहिल्या जी को अपने अभियान की कथा समास में सुनाने लगे। जैसे-जैसे उनकी यात्रा का प्रसंग और मृत्यु-सी भयदायिनी आकस्मिक घटनाओं को अहिल्या जी सुनती जातीं, उनका मन उत्तंक जी के प्रति श्रद्धा एवं वात्सल्य से भरता जाता। मधुपुष्पा अब तक

प्रिय-दर्शन के प्रथम भावावेग को सहन कर शांत हो गई थी और माता की पूर्णशाला में ही बैठी वह नाना प्रकार की कल्पनाओं में डूबी हुई उत्तंक जी की यात्रा का प्रसंग सुनती रही।

उत्तंक जी ने कहीं भी अपने तप अथवा योगबल का सगर्व उल्लेख न किया। बारंबार वे गुरु कृपा के ही गीत गाते रहे। उनकी कथा सुनकर अहिल्या जी प्रेम भरी वाणी में बोलीं— "वत्स ! यह मणिमय कुण्डल तुमने अपने तपोबल से प्राप्त कर मुझे सन्तुष्ट किया है। पुत्र ! तुम्हारी चौदहों विद्याएँ सफल हों। तुम गृहस्थाश्रम में जाने के लिए उद्यत हो। मेरे आशीर्वाद से ये दिव्य कुण्डल अब तुम्हीं ग्रहण करो।"

"माता जी ! मेरी इन्हें प्राप्त करने की कोई अभिलाषा नहीं है। मेरी कठिन परीक्षा समाप्त हुई। अतः अब कृपापूर्वक मेरे समक्ष लोभ का वातावरण प्रस्तुत न करें। जो लोभ के वश होने वाले अजित आत्मा हैं, उनमें तो दम्भ, द्रोह, निंदा, पिशुनता, डाह, सब दुर्गुण प्रकट हो जाते हैं। लोभ मन में आने से ही क्रोध, मोह, काम आदि दोष भी मन में प्रविष्ट होकर जीव को छिद्र युक्त नौका की नाईं डुबो देते हैं। जो वस्तु गुरु-दक्षिणा में भेंट दे दी गई, उसे वापस लेकर तो शिष्य समस्त विद्याओं को निष्फल ही करेगा।"

बहुत आग्रह करने पर भी जब उत्तंक जी ने वे कुण्डल स्वीकार न किये तो अहिल्या जी ने उन्हें धैर्यपूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करने का परामर्श दिया जब गुरु जी समाधि खोलकर फलाहार ग्रहण करेंगे।

कृतकृत्य उत्तंक जी विचारों में डूबे हुए अपनी कुटी में आ गए। उनका मन साधना को सिद्धि में परिणत करने वाले साधक की ही भाँति शाँत था, तथापि कुटी में आते ही एकान्त पाकर पुराने संस्कार एक बार फिर जाग उठे। वे कल्पना करने लगे—"क्या मुझे गुरुजी का आदेश मानकर तपोबल द्वारा युवा होना पड़ेगा? मधुपुष्पा······चम्पा के पुष्प-सी सुगन्ध प्रसार करने वाली मधुपुष्पा, क्या मेरा वरण करेगी? क्या पितृ-ऋण से मुक्त होना आवश्यक है?—" तभी उनके सामने मानो कपोती का अंडा गिरकर फूट गया। कपोती विलाप करने लगी और नारी की निन्दा के सम्बन्ध में उन्होंने पुराण-शास्त्रों में जो बहुत कुछ पढ़ा था, मानो एक साथ ही अखण्डित आकाश की भांति चमकने लगा। फिर अन्तर मन में कोई बोल उठा—'उत्तांक, जब तू अत्यन्त वृद्ध हो जायेगा, तब तेरी सेवा कौन करेगा? तेरे कोई पुत्र होता तो वृद्धावस्था में वह तेरी रक्षा करता। गुरु जी के भी तो दो पुत्र हैं ही, यद्यपि पुत्र, स्त्री आदि किसी सम्बन्धी में आसक्ति करना उचित नहीं, पर पितृ-ऋण की पूर्ति के लिए तू एक पुत्र का पिता तो बन। सत्तूदान करने वाले ब्राह्मण ने अपने पुत्र से यही तो कहा था कि 'पिता पुत्र को जन्म देकर अपने को कृतकृत्य मानता है।' संकल्प-विकल्प को जीतने वाले मुनि उत्तांक भी उस समय मन में उठने वाले संकल्पों को न रोक सके। वे भीतर की वाणी सुनते रहे—'धर्म, अर्थ, काम, जैसे स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले हैं; आहवनीय, गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि, जैसे स्वर्ग के साधन हैं, उसी

प्रकार पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र भी स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले हैं।…पुत्र पिता को पितृ-ऋण से छुटकारा दिला देता है। पुत्र द्वारा मनुष्य उन लोकों को जाता है, जहां वह कभी शोक को प्राप्त नहीं होता। वह श्रेष्ठ लोकों को जाता है। पितृ-ऋण से मुक्ति पा! उत्तंक, पितृ-ऋण से मुक्ति पा……मधुपुष्पा!… मधुपुष्पा……पितृ-ऋण!—" मन का आलोड़न इतना बढ़ गया कि वे उसे सहन न कर सके। तब समाधिस्थ हो अपने चित्त को शान्त करने और अपना भविष्य स्वयं देखने की चेष्टा में उन्होंने सिद्धासन लगा नेत्र मूंद लिए।

कुछ ही क्षण बीते थे कि उन्हें एक विह्वल स्वर सुन पड़ा— "वत्स! उत्तंक।……" यह गौतम जी की वाणी थी। उत्तंक विह्वल-से उठे और गद्गद् हो उनके चरणों में लोट गए। गौतम ने उन्हें ऐसे ही उठा लिया जैसे कोई रंक भू-लुंठित स्वर्ण समेटता हो। उत्तंक को गले से लगाते हुए गौतमजी उसी गद्गद् स्वर में बोले—"तुम सकुशल लौट आये, इसी से आज मुझे ऐसी प्रसन्नता हो रही है, मानो मैंने आज तीसरा पुत्र पा लिया हो। वत्स, तुम्हारे हृदय की उथल-पुथल ने मेरी समाधि भी एक घड़ी पूर्व ही खोल दी…। बैठो, तुम अपना भविष्य जानने के लिए उतावले हो?"…

प्रसन्नता से प्रफुल्लवदन गौतम जी उत्तंक जी द्वारा बिछाये गए नागरिपु की छाल के उत्तम आसन पर उनकी कुटिया में ही बैठ गये। उन्हें वहाँ आते हुए अहिल्या जी ने देख लिया था। अतः वे भी गुरु-शिष्य की इस अनुपम भेंट का परिणाम जानने के लिए उत्सुक थीं। उनके मन में भी यही धुक-धुकी

लगी थी कि—"क्या उत्तंक जी मधुपुष्पा को स्वीकार करने के हेतु पुनः युवावस्था प्राप्त करेंगे ?"

उत्तंक जी गुरु की वाणी सुनकर संकोच से घिरे उनके समीप ही बैठ गये। "सुनो, उत्तंक ! तुम्हारे भविष्य का दर्शन मैंने कर लिया है। वत्स, अभी तुम युवा शरीर धारण कर अपने पितरों के ऋण से मुक्त होने के लिए सचेष्ट हो। तात, तदुपरान्त तुम मेरी आज्ञा से मरुभूमि में वहीं उज्जालक नाम के रेत के समुद्र के समीप जाकर आश्रम बनाओगे, जहाँ पूर्व-काल में तुम अयोध्या के इक्ष्वाकुवंश की ग्यारहवीं पीढ़ी के राजा कुवलाश्व की सहायता से महाबली दैत्व धुंध का नाश करवा चुके हो। तुम्हें स्मरण होगा, वत्स ! वह मधुकैटभ का पुत्र वर्ष में एक बार ही श्वास लेता था और उसके श्वास लेने पर सात दिन तक भूकम्प आता था, वन-पर्वतों सहित भूमि हिल उठती थी। अग्नि के स्फुलिंग, धूम सर्वत्र छूट जाते थे।"

"हाँ गुरुदेव ! आपकी कृपा से तब मैंने विष्णु भगवान् की प्रसन्नता के लिए तप किया था। आपने बताया था कि तप-बल से ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं, तपबल से ही विष्णु जी उसका पालन करते हैं और तपबल से ही शंकर जी सृष्टि का संहार करते हैं। तपबल ही श्रेष्ठबल है। मेरे तप से प्रसन्न होकर ही विष्णु भगवान् ने मुझे दिव्य दर्शन दे कृतार्थ किया था और अयोध्या के राजा कुवलाश्व की सहायता प्राप्त करने के लिए आदेश दिया था।…मुझे स्मरण है महामुने ! उस महाभयंकर युद्ध में कुवलाश्व के इक्कीस हजार पुत्रों में से केवल तीन ही शेष रहे थे। पर तब से मरुभूमि में धुन्ध का नाश

होने से प्रजा निश्चिन्त हो गई।"

"वत्स ! ऐसे ही अब भी तुम मरुभूमि में जाकर भगवान् विष्णु का पुनः साक्षात् दर्शन करोगे। भगवान् हस्तिनापुर से[1] द्वारिका लौट रहे होंगे, महाभारत युद्ध के पश्चात् ! तुम उन्हें पहचान लोगे, पर उनकी शक्ति को नहीं पहचानोगे। कौरवों के नाश के समाचार से संतप्त हो तुम क्रोधाभिभूत हो जाओगे। वत्स, कृष्ण भगवान् तुम्हें अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराएंगे।—" कहते-कहते गौतम जी मानो ध्यानमग्न हो गए।

"सच ?" अत्यन्त हर्ष से उत्तंक उछल पड़े। उन्हें रोमांच हो आया। नेत्र भगवान् कृष्ण का ध्यान कर सजल हो आये।

"हाँ, वत्स ! तुम उन पर उसी प्रकार रुष्ट होओगे जिस प्रकार तुम्हारे पूर्व पुरुष भगवान् परशुराम, विष्णु अवतार श्रीराम पर धनुष-भंग के कारण रुष्ट हुए थे। वत्स ! उनके दिव्य स्वरूप को न समझकर तुम उन पर इसलिए ही कोप

---

१. 'महाभारत' के 'आदि पर्व' में उत्तंक जी के स्वयं भी हस्तिनापुर जाने का आख्यान है। वहां आता है कि जनमेजय ने उत्तंक जी की प्रेरणा से ही अपने पिता परीक्षित की मृत्यु का बदला लेने की भावना से तक्षक को मारने के लिए सर्प-सत्र किया था। उत्तंक जी भी तक्षक द्वारा कुण्डल चुराये जाने पर उससे रुष्ट थे और उनमें भी प्रतिहिंसा की भावना थी।

पर इस उपन्यास में उत्तंक जी का जो चरित्र-चित्रण हुआ है, उसकी मर्यादा की रक्षा करने के उद्देश्य से ही हमने उनमें प्रतिहिंसा का भाव दिखाना अभीष्ट नहीं समझा।

करोगे कि उन्होंने कौरवों-पांडवों का नाश करा दिया था। तात ! जिस प्रकार भगवान् कृष्ण धनंजय को ज्ञानोपदेश देकर उनका मोह नष्ट करेंगे, उसी प्रकार तुम्हारा भी मोह नष्ट हो जायगा। और उनका परम कल्याणमय विराट्-स्वरूप नेत्रगोचर होने पर तुम इसी जीवन में परमपद पाओगे।"

इतना श्रवण कर गुरु-वत्सल उत्तंक भाव-विभोर हो गुरु-चरणों में झुक गए। "भगवन् ! यह आपकी सेवा का ही फल है। आज मानो मैंने सब कुछ पा लिया।"

"बेटा, उत्तंक ! यही नहीं ! कृष्ण की कृपा से तुम्हें मरुभूमि में मनचाहा अमृत सदृश जल प्राप्त होगा। तुम्हारी इच्छा से बरसने वाला जल मरुभूमि को उर्वरा बना देगा। और जब तक यह सृष्टि रहेगी, तब तक तुम उत्तंक नाम के मेघ बनकर उसी प्रकार अमर रहोगे जैसे ध्रुव अचल पद पाकर अमर हैं। परमपद पाकर भी तुम्हारी परोपकार-वृत्ति बनी रहेगी।"

इतना कहकर त्रिकाल दर्शी गौतम जी की अत्यन्त आर्द्र वाणी जब शांत हो गई तो उत्तंक जी बोले—"महामुने ! आपसे श्रीकृष्ण-दर्शन की भविष्यवाणी श्रवण कर मेरा मन तुरंत मरुभूमि में जाने के लिए विचलित हो उठा है। आपकी आज्ञा हो तो मैं आज ही मंगल मुहूर्त में यात्रा आरंभ करना चाहता हूँ। आपने आशीर्वाद से मुझे पुनः युवावस्था प्राप्त हो गई तो मरुभूमि से लौटकर केवल पितृ-ऋण मात्र चुकाने के अभिप्राय से मैं गृहस्थाश्रम में भी प्रविष्ट हो जाऊँगा।"

आह्लादपूरित स्वर में गौतम जी बोले—"वत्स ! अब

तुम उस स्थिति में पहुँच चुके हो कि तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा है। तुम्हारा यश इस भूमि पर चन्द्र-सूर्य के रहते कभी नष्ट न होगा, बेटा ! तुम यात्रा की तैयारी करो। आज ही मंगल वेला है, तुम्हारे लिए वही रथ तैयार होगा जो प्रायः मेरी यात्रा के निमित्त उपस्थित रहता है।"

गुरु गौतम जी का यह संवाद, आशीर्वाद और आदेश आश्रम के पावन वातावरण में सुगन्धित यज्ञ धूम की भाँति ही फैल गया।

गुरु के समीप से जब उत्तंक बाहर आये तो वे एक तरुण तेजस्वी तपस्वी के समान ही शोभा पा रहे थे। उनके केश श्याम हो गए थे, दाढ़ी का अभाव हो गया था और शरीर बीस वर्ष के युवक की भाँति बलिष्ठ-गठित दिखाई देता था।

रथ तैयार होने की सूचना पाकर वे पहले सभी आश्रम-वासी ब्रह्मचारियों की कुटियाओं में जा-जाकर उनसे गले मिलने लगे। उत्तंक जी को विदा करते हुए प्रायः सभी की आँखों में अश्रु थे। कोई कठिनाई से ही कुछ कह पाता था। स्वयं उत्तंकजी की ऐसी स्थिति थी जैसी शकुन्तला की पिता-तुल्य कण्वजी से विदा होते समय हो गई थी, अथवा जैसी अंगद जी की श्रीराम से विदा लेते समय हो गई थी। वे अपने अविरल अश्रु-प्रवाह को रोक ही नहीं पाते थे। वह दृश्य तो सबसे करुण था जब वे गुरु गौतम जी के चरणों में लिपटकर फूट-फूटकर रोने लगे। उन्होंने गुरु जी की कुटिया के ठीक बाहर जिस मौलश्री के वृक्ष को अपने हाथों से रोप कर, सींच कर बड़ा किया था, उसे भी अंक में भर कर वे गृहासक्त की भाँति विलाप

करने लगे। माता अहिल्या जी के चरणों में गिरे तो उन्हें मूर्छा-सी हो गई। अहिल्या जी ने सिर पर हाथ फेर कर उन्हें उठाया और अपने पातिव्रत की शपथ लेकर जगाया। तभी उनकी मूर्छा जागी। तब मधुपुष्पा ने अपने आँचल में मुख छुपा लिया था। यद्यपि वह सबसे करुणाजनक स्थिति में थी, तथापि उसके मुँह से स्वर भी नहीं निकल पा रहा था।

अहिल्या जी बोलीं—"बेटा! जब तक तुम नहीं लौटोगे ये दिव्य कुण्डल मेरे पास तुम्हारी धरोहर के रूप में ही सुरक्षित रहेंगे। और..." अहिल्या जी की वाणी में सहसा विलाप का स्वर फूट पड़ा—"वत्स! एक बात और कहूँ, अन्यथा ग्रहण न करना, पिता का आशीर्वाद पाकर यह सुकुमार मधुपुष्पा भी तुम्हारी उसी प्रकार प्रतीक्षा करती रहेगी जैसे विस्मृता शकुंतला दुष्यन्त की करती रही थी अथवा परित्यक्त दमयन्ती नल की करती रही थी..."

मधुपुष्पा का करुण स्वर अब प्रथम बार सुन पड़ा।

उत्तंक जी का कण्ठ भी भर आया। वे कुछ भी न बोल सके।

गौतम जी के चरणों का एक बार पुनः स्पर्श कर जब उत्तंक जी उत्तम बैलों को गले लगाकर गुरु के दिव्य रथ पर चढ़े, तो वे बैल भी रुदन करने लगे। गौतम जी ने भी आगे बढ़कर बैलों को प्यार किया। सारथी के स्थान पर बैठे अतापी ने मधुर घंटिका ध्वनि करने वाला रथ हाँका तो गौतम जी ने स्वयं मंगल-सूचक गंभीर शंख-घोष किया। अश्रुप्लावित नेत्रों से उत्तंक ने पवित्र तपोवन को एक बार सश्रद्ध शीश झुका दिया।

अहिल्या जी ने पुत्री मधुपुष्पा को कण्ठ से लगा पर्णशाला की ओर लौटते समय पति का अनुगमन किया। प्रवेश-द्वार से भीतर तक लगे हुए कदली वृक्षों के लम्बे, चिकने पत्ते तब बिलकुल उदास-शाँत हो गए। पर मधुपुष्पा के कानों में सदा गूंजने वाली उस समय की मंगल शंख-घंटा-ध्वनि शाँत नहीं हुई, शाँत नहीं हुई।



परिशिष्ट

आरुणि की कहानी

गुरु-भक्त आरुणि की कथा 'महाभारत' के आदि पर्व में आती है। वर्षा की ऋतु थी। घनघोर वृष्टि हो रही थी। इसका लाभ उठाकर धान के पौधे रोपने के लिए खेतों में जल एकत्र किया जा रहा था। ऐसे ही समय में ऋषि आयोधौम्य ने अपने प्रिय शिष्य आरुणि को आज्ञा दी—"वत्स ! जाओ, धान के खेत में मेंड़ बाँध आओ। इस बात का विशेष ध्यान रखना कि खेत से पानी बाहर न जाने पाये।"

आरुणि ने खेत पर पहुँचने में तनिक विलम्ब न किया। पर जब वह वहाँ पहुँचा तो खेत की मेंड़ टूट चुकी थी, और पानी वेग से खेत से बाहर बह रहा था। आरुणि ने फावड़े से खोद-खोद कर मेंड़ पर मिट्टी डालनी आरम्भ की। पर पानी का वेग ऐसा था कि डालते-डालते ही सारी मिट्टी बह जाती थी। जल का प्रवाह रोके न रुका। हार कर आरुणि मेंड़ का बाँध बनकर स्वयं ही आडा लेट गया। उसके बली शरीर में टक्करें मार-मार कर पानी ने आखिर हार मानी। खेत में पानी रुकने लगा। आरुणि पानी में भीजता पड़ा रहा। पर उसकी प्रसन्नता और सन्तोष का ठिकाना न रहा। कुछ समय पश्चात् ही उसका शरीर अकड़ गया, जोकें और दूसरे मच्छर उसे अपने दंशों से पीड़ित करने लगे। पर, वह उसी अवस्था में प्रणायाम साधकर स्थिर पड़ा रहा। इसी स्थिति में पड़े-पड़े रात्रि का अंधकार छा गया।

संध्या की प्रार्थना के बाद ऋषि-कुल के सभी ब्रह्मचारियों ने गुरु आयोधौम्य का आशीर्वाद प्राप्त किया, पर आरुणि नहीं आया। धौम्य ऋषि को आज्ञाकारी शिष्य आरुणि की अनुपस्थिति खटकी। उन्हें चिंता

होगई। वर्षा यद्यपि शांत हो चुकी थी तथापि आरुणि नहीं लौटा था। आश्रम में खलबली-सी मच गई। चिंताकुल ऋषि धौम्य ने ब्रह्मचारियों के साथ मशालें लेकर खेत की ओर प्रस्थान किया। चारों ओर सन्नाटा छाया था। उस नीरवता में धौम्य ऋषि का स्वर गूंज उठा—"बेटा, आरुणि ? आरुणि तुम कहाँ हो ?"

मूर्छित प्रायः पड़े हुए आरुणि के कानों में गुरु की अमृत-तुल्य वाणी का प्रवेश होते ही मानो उष्णता का संचार हुआ। वह लेटे-लेटे ही थके हुए स्वर में बोला—"गुरु जी ! मैं यहां जल का वेग रोके हुए पड़ा हूँ।"

ऋषि धौम्य घबड़ा कर वहां पहुँचे। देखा, आरुणि जल में भीजकर नीला पड़ गया है। उन्होंने शीघ्रता से झुक कर आरुणि को गले से लगा लिया। वस्त्रों की भांति ही उनका कंठ भी भीज गया। गद्-गद् गिरा से वे बोले—"वत्स, तू धन्य है। तू ने क्यारी को विदीर्ण किया है, अतः अब से तेरी प्रसिद्धि "उद्दालक" नाम से होगी। वेद और धर्मशास्त्र तेरे अंतःकरण में स्वयं प्रकाशित होंगे। लोक-परलोक में तेरा मंगल होगा।"

गुरु-कृपा से आरुणि ने भी ऋषि-पद पाकर अपना परलोक सुधार लिया।

उपकोसल का आख्यान

उपकोसल नामक ब्रह्मचारी कमल का पुत्र था। वह सत्यकाम जाबाल का शिष्यत्व ग्रहण कर उनके आश्रम में ब्रह्मचर्य-वास करता था। बारह वर्षों के दीर्घकाल में उसने आचार्य के यहाँ अग्नियों की सेवा की। आचार्य ने अनेक अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार कर दिया, पर उपकोसल का ही नहीं किया।

एक बार इसी प्रश्न को लेकर सत्यकाम जाबाल की भार्या ने पति

से कहा—"यह ब्रह्मचारी पर्याप्त तपस्या कर चुका है, अतः कृपा कर इसे भी ब्रह्म-विद्या का उपदेश कीजिए।" पर ऋषि उपकोसल को उपदेश किए बिना ही प्रवास में चले गए। उन्होंने भार्या के इस कथन की कि—'अग्नियां कहीं आपकी निंदा न करें'—कोई चिंता न की।

उपकोसल को थोड़ा मानसिक खेद हुआ, पर गुरु की इस प्रत्यक्ष अकृपा में भी उसने किसी अप्रत्यक्ष कल्याण का मार्ग देखा। हुआ भी ऐसा ही। उपकोसल ने यह सोचकर कि "मनुष्य में अनेक ओर जानेवाली बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं, इसलिए व्याधियों से परिपूर्ण मन का नियंत्रण करने के लिए मैं अनशन करूंगा—" भोजन त्याग दिया। आचार्य-पत्नी के आग्रह पर भी जब उसने अन्न ग्रहण नहीं किया, तो स्वयं गार्हपत्याग्नि, आन्वाहार्यपचन अग्नि और आहवनीय अग्नि ने उपकोसल को क्रमशः ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। उसका मुखमंडल ब्रह्मज्ञान के अलौकिक तेज से दमक उठा।

कुछ काल बीतने पर जब आचार्य सत्यकाम जाबाल आश्रम में लौटे तो उन्होंने प्रिय शिष्य उपकोसल से कहा—"तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता जैसा जान पड़ता है, तुझे किसने उपदेश किया ?"

उपकोसल ने विनम्रभाव से कहा—"गुरुजी ! मुझे कौन उपदेश करता ?"

अन्तर्द्रष्टा गुरु ने सब कुछ जान लिया था। उपकोसल की सुपात्रता के विषय में वे निःसंशय थे। प्रसन्नतापूर्वक तब उन्होंने विस्तार से उपकोसल को उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जिसे जानकर पाप कर्म का उसी प्रकार स्पर्श नहीं होता जैसे कमल-पत्र का जल से संबंध नहीं होता। उपकोसल को गुरु-कृपा से उस ब्रह्म-मार्ग का ज्ञान भी हो गया, जिसमें जाकर पुरुष इस मानव-मण्डल में नहीं लौटता।

शिखिध्वज और चुड़ाला

"यह शिखिध्वज आपको अभिवादन करता है।" मन्दराचल की एकान्त शान्त गुफा में देवताओं के निमित्त पुष्प चयन करके माला गुम्फन करते हुए तपस्वी ने एक गौर वर्ण तरुण तेजोमूर्ति ब्राह्मण को देखकर अभ्युत्थान दिया। अर्घ्य, पाद्य के अनन्तर पुष्प-माल्य अतिथि को पाकर सार्थक हो गया। ब्राह्मण आसनासीन हुए।

"तुम्हारा यह क्षीण काय, ये जटाएं, यह कठिन तपस्या और यह विस्तृत कर्मजाल किस लिए है?" परिचय में ब्राह्मण ने अपने को कुम्भ ऋषि बतलाया था और राजा से तपः कुशल का शिष्टाचार समाप्त हो चुका था।

"तुमने मेरा अत्यन्त सत्कार किया है। मैं प्रसन्न हूँ। तप संन्यासी और बानप्रस्थी के लिए उपयुक्त हैं, पर तुम तो तरुण हो। यह विधर्म तुमने किस उद्देश्य से स्वीकार किया? सुख और दुःख तो मन के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं। तुम्हारे राज्य-सुख छोड़ने और तप-कष्ट उठाने का आत्मा से क्या सम्बन्ध? यदि तुम्हें मोक्ष अभीष्ट है तो तुम्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तुम्हारी पत्नी चुड़ाला ने तुम्हें ठीक ही उपदेश किया था। उसका अनादर करके जब तुम वन में ही आ गए हो, तो फिर यहां भी तुमने पूर्ण त्याग की प्राप्ति क्यों नहीं की! धन, पुत्र, राज्यादि तो किसी के हैं नहीं। तात्त्विक दृष्टि से तो सर्वेश्वर के हैं। उनका त्याग त्याग नहीं है।"

राजा ने आसन छोड़ा और खड़े हुए। "मैं अब कहीं भी पड़ा रहूंगा। मेरी अब कोई गुफा नहीं, कोई आश्रम नहीं।" उन्होंने आसन त्याग डाला, कमण्डलु भी छोड़ दिया।

"अभी बहुत कुछ छोड़ना है।" ब्राह्मण-कुमार मुस्कराया।

"हाँ।" उन्होंने पाठ की पुस्तक और जप-माला भी फेंक दी।

"अभी भी........"

राजा ने जल उठाया और चुल्लू में लेकर संकल्प किया—"मैं अपनी समस्त तपस्या जप, पूजादि का फल त्याग करता हूँ।"

"अभी और भी त्याग करना शेष है।"

राजा ने कुछ सोचा और विचारमग्न हो एक शिला पर जा खड़ा हुआ। वह कूदकर आत्म-हत्या ही करना चाहता था कि विप्र-कुमार ने पीछे से पकड़ लिया।—"तुम समझते हो कि शरीर-त्याग से ही सब कुछ हो जायगा।" विप्र का स्वर कठोर था—"आत्म-हत्या का पाप और मिलेगा। तुमने शरीर प्राप्त कराने वाले अहंकार का त्याग तो किया नहीं। मैं कर्ता हूँ, मैंने त्याग किया,—यह सब कथन क्या सत्य हैं? आत्मा तो अकर्ता है! तुम इस अहंकार का त्याग किए बिना पूर्ण त्यागी कैसे बनोगे?"

तपस्वी ने इस प्रकार के उपदेश से ही राजा शिखिध्वज के अन्तःकरण को शुद्ध कर दिया था—इससे मल नष्ट हो गया। फलत्याग के संकल्प से विक्षेप छूट गया और इन बोध वाक्यों ने अन्तःकरण पर आघात किया। और राजा ने अपने ज्ञानदाता के चरणों पर मस्तक झुकाना चाहा। पर यह क्या; विप्रकुमार के स्थान पर वहाँ चुड़ाला स्वयं खड़ी थी। वह पति के चरणों में झुक गई।

× ×

सौराष्ट्र की राज-कन्या चुड़ाला जितनी सुन्दर थी, उतनी ही नृत्य-संगीत आदि ललित कलाओं में निपुण थी। उज्जयिनी के महाराज शिखिध्वज के समान शूर, सुन्दर, सदाचारी एवं प्रतापी नरेश से उसका पाणिग्रहण हुआ। दम्पति ने अपने हृदयों के सद्गुणों का भी आदान-प्रदान किया और फलतः चुड़ाला धर्मशास्त्र में और राजा ललित कलाओं में निपुण हो गए। चुड़ाला की प्रतिभा पति से धर्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर मुखर हो गई। उसमें जिज्ञासा उठी, मैं कौन हूँ? संसार में क्यों आई हूँ। यहाँ आने का उदेश्य क्या है?

जिज्ञासा ने हृदयभूमि में मनन का बीज डाला। निरन्तर मनन ने स्पष्ट कर दिया कि शरीर, इन्द्रियां, मन, प्राण बुद्धि तथा अहं अपना स्वरूप नहीं। परम तत्त्व की उपलब्धि के पश्चात् चुड़ाला ने चाहा कि पति को भी वह इस निःश्रेयस स्थिति का साक्षात् करा दे। पर राजा शिखिध्वज पर कोई भी असर न हुआ। वे तो रानी के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध थे। अन्ततः चुड़ाला ने सोचा— धर्मयुक्त भोग में लिप्त रहने का फल है वैराग्य और आरम्भिक वैराग्य विचारहीन होता है। महाराज को ऐसा वैराग्य अवश्य होगा और तब वे वन में चल जाएँगे। ऐसा अवसर आने पर महाराज को उचित मार्ग पर लाने के लिए उसने साधन प्रारम्भ किया और आकाशमार्ग से गमन की सिद्धि प्राप्त कर ली।

एक बार शिखिध्वज ने वन में जाकर तप करने की इच्छा व्यक्त की तो रानी ने समझाया—"प्रत्येक कार्य यथा अवसर करना ही उपयुक्त होता है। आप गृहस्थ हैं। आपके लिए वनवास विधर्म है।" पर शिखिध्वज चुपचाप एक रात में बन चले गए।

× ×

चुड़ाला ने पति के चरणों में झुक कर कहा—"तपस्या ने आपके हृदय के मल को नष्ट कर दिया है। इसीलिए दासी सेवा में उपस्थित है।" चुड़ाला के नेत्र प्रेमाश्रुओं से भरे थे।

"अब क्या इच्छा है ?" शिखिध्वज ने पूछा।

"वन में मेरे साथ रहना हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मेरी तपस्या आपको मेरे साथ स्वर्ग में भी रखने में समर्थ है।"

"मुझे भोग आकर्षित नहीं करते। स्वर्ग का मुझे क्या करना है।" चुड़ाला का आनन्द आज सीमातीत है। उसने कहा—"तपस्या से आपको कुछ प्राप्त नहीं करना। राज्य प्रारब्ध-वश स्वतः प्राप्त है। प्रजा-पालन का कर्तव्य आपको कर्म-विधान से मिला है, उसको आप क्यों अस्वीकार करें ?"

शिखिध्वज पत्नी के साथ राजधानी लौट आया। आत्मदर्शन-सम्पन्ना पत्नी ने इस स्थिति में भी सहधर्मिणी के कर्तव्य को पूरा किया।

पर्याप्त समय तक राज्य करने के उपरान्त दोनों ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

महाराज शिखिध्वज ने चुड़ाला को आशीर्वाद दिया था—"तुम विश्व की श्रेष्ठ सतियों में सदा सम्मानित होओगी।"

सौभरि ऋषि

सौभरि ऋषि का आख्यान "श्रीमद्‌भागवत्" में आता है। ये परम तपस्वी ऋषि थे। बारह वर्ष तक इन्होंने केवल सूखे पत्ते खाकर तपस्या की, बारह वर्ष केवल जल पीकर रहे, तदनन्तर बारह वर्ष केवल वायु का भक्षण किया और पुनः बारह वर्ष केवल सूर्य की किरणों का ही पान करते रहे। बारह वर्ष एक टांग से खड़े रहे, और बारह वर्ष एक ही अंगूठे पर खड़े होकर तप किया। इस प्रकार उनके तप से इन्द्र भी भयभीत हो गया। फिर उन्होंने यमुना-जल में बैठकर समाधि लगा दी। वहाँ बारह वर्ष तक तप करते-करते उनके शरीर पर काई जम गई, केश बढ़ गए और शरीर से मछलियों जैसी दुर्गंध आने लगी। समाधि खुलने पर उन्होंने देखा कि एक मत्स्यराज अपनी पत्नियों के साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा कर रहा है। उनके बच्चे कभी ऊपर से तैर जाते हैं, कभी मुँह से टकराते हैं, कभी पूँछ नोचते हैं और पूरा मत्स्य-परिवार बड़े आनन्द में मग्न है। उस मत्स्य-परिवार की क्रीड़ा देखकर सौभरि के मन में भी विवाह की इच्छा जाग उठी। वह समाधि छोड़कर जल से बाहर आए। उस प्रदेश के राजा मान्धाता के पचास कन्याएं थीं। वह उसी से एक कन्या मांगने के विचार से राज-प्रसाद में जा पहुँचे। सौभरि ने अपने शरीर की ओर नहीं निहारा, न आयु का विचार किया। वैवाहिक सुख और गृहस्थ की वासना ने उन तेजस्वी तपस्वी को अन्धा, अज्ञानी बना

डाली । वासना से वह भिखारी हो गये और राजा के यहाँ कन्या की याचना करने पहुँचे ।

तृष्णा के वश हुएँ सौभरि ने जब राजा मान्धाता पर अपनी इच्छा व्यक्त की तो वह आश्चर्यचकित रह गया । 'शरीर, आयु, रूप-रंग का विचार न करते हुए यह कन्या मांग रहे हैं ? इन्हें कैसे मना करूँ ?' सोच-विचार कर राजा ने कहा—"महामुने ! आप अन्तःपुर में चले जायें, जो कन्या आपको पसन्द कर लेगी, उसी से मैं आपका विवाह कर दूँगा ।"

सौभरि राजा की अभिप्राय-युक्त वाणी को समझ गए और राज-प्रासाद में भीतर जाते-जाते उन्होंने अपने को तरुण, सुन्दर, स्वस्थ युवक में परिवर्तित कर लिया । उनके उस रूप पर देवांगनाएं भी मोहित हो जातीं । वे महल में अन्दर पहुँचे तो राजा की सभी कन्याएं उन पर मोहित हो गईं । उन्होंने राजा की अनुमति से पचासों कन्याओं का वरण किया और उन्हें लेकर वन में आ गए । अपने योगबल से उन्होंने सभी पत्नियों के लिए सुन्दर प्रासाद और वैभव-सामग्री आदि की व्यवस्था कर दी । इस प्रकार अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हुए उन्हें प्रत्येक पत्नी से सौ-सौ बालक प्राप्त हुए । योगबल से ५ हजार से अधिक प्राणियों के समुचित भरण-पोषण में उन्हें कोई कठिनाई न हुई ।

सौ वर्ष तक इसी प्रकार सुख भोगते हुए उनका योग-बल क्षीण हो गया । और एक दिन एक पत्नी के सिर का दर्द दूर करने में भी वे असमर्थ हो गए । सिद्धि के नाश से चित्त को ठोकर लगी । वे तब सोचने लगे—'मत्स्य-परिवार के क्षणिक संसर्ग ने मुझे पतन के गढ़े में गिरा दिया । जिसे मोक्ष की इच्छा है, उसे चाहिए कि वह भोगी प्राणियों का संग सर्वथा छोड़ दे ।'

अन्त में पश्चात्ताप से दग्ध सौभरि ने पुनः घोर तपस्या की और आवाहनीय अग्नि द्वारा अपने को परमात्मा में लीन कर दिया ! उनकी पत्नियां भी उनके साथ ही सती होकर उन्हीं में लीन हो गईं, जैसे ज्वालाएं शांत अग्नि में लीन हो जाती हैं । ० ०